जीवन देवता की साधना-आराधना

— श्रीराम शर्मा आचार्य

जीवन देवता
की
साधना आराधना

पं० श्री राम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : ९.०० रुपये

◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈

ईश्वर छोटी-मोटी भेंट-पूजाओं या गुणगान से प्रसन्न नहीं होता। ऐसी प्रकृति तो क्षुद्र लोगों की होती है। ईश्वर तो न्यायनिष्ठ और विवेकवान है। व्यक्तित्व में आदर्शवादिता का समावेश होने पर जो गरिमा उभरती है, उसी के आधार पर वह प्रसन्न होता और अनुग्रह बरसाता है।

प्रतीक पूजा की अनेक विधियाँ हैं, उन सभी का उद्‌देश्य एक ही है, मनुष्य के विकारों को हटाकर, संस्कारों को उभारकर, दैवी अनुग्रह के अनुकूल बनाना।

साधना से सिद्धि का सिद्धांत सर्वमान्य है। प्रश्न है—साधना किसकी की जाय? उत्तर है— जीवन को ही देवता मानकर चला जाय। यह इस हाथ दे, उस हाथ ले का क्रम है। इसी आधार पर आत्मसंतोष, लोक सम्मान और देव अनुग्रह जैसे अमूल्य अनुदान प्राप्त होते हैं।

◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈◈

अध्यात्म तत्त्व ज्ञान का मर्म जीवन साधना

अति निकट और अति दूर की उपेक्षा करना मानव का सहज स्वभाव है। यह उक्ति जीवन संपदा के हर क्षेत्र में लागू होती है। जीवन हम हर घड़ी जीते हैं, पर न तो उसकी गरिमा समझते और न यह सोच पाते हैं कि इसके सदुपयोग से क्या-क्या सिद्धियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। प्राणी जन्म लेता और पेट प्रजनन की, प्राकृतिक उत्तेजनाओं से विक्षुब्ध होकर, निर्वाह की जरूरतें पूरी करते हुए दम तोड़ देता है। ऐसे क्षण कदाचित ही कभी आते हैं, जब यह सोचा जाता हो कि स्रष्टा की तिजोरी का सर्वोपरि उपहार मनुष्य जीवन है। जिसे अनुग्रहपूर्वक यह जीवन दिया गया है, उससे यह आशा की गई है कि वह उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करेगा। अपनी अपूर्णता पूरी करके तुच्छ से महान बनेगा, साथ ही विश्व उद्यान को कुशल माली की तरह सींचते-सँजोते, यह सिद्ध करेगा कि उसे स्वार्थ और परमार्थ के सही रूप का ज्ञान है। स्वार्थ इसमें है कि पशु प्रवृत्तियों की कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाएँ और सत्प्रवृत्तियों की आवश्यक मात्रा में अवधारणा करते हुए उस परीक्षा में उत्तीर्ण हों, जो धरोहर का सदुपयोग कर सकने के रूप में सामने प्रस्तुत हुई है। जो उसमें उत्तीर्ण होता है, वह देवमानव की कक्षा में प्रवेश करता है। अपना ही भला नहीं करता, असंख्यों को अपनी नाव में बिठाकर पार करता है। ऐसों को ही अभिनंदनीय, अनुकरणीय महामानव कहा जाता है। तृप्ति, तुष्टि, शांति के त्रिविध आनंद ऐसों को ही मिलते हैं।

मनुष्य जीवन दिव्य सत्ता की एक बहुमूल्य धरोहर है, जिसे सौंपते समय उसकी सत्पात्रता पर विश्वास किया जाता है। मनुष्य के साथ यह पक्षपात नहीं है, वरन् ऊँचे अनुदान देने के लिए यह प्रयोग-परीक्षण है। अन्य जीवधारी शरीर भर की बात सोचते और क्रिया करते हैं, किंतु मनुष्य को स्रष्टा का उत्तराधिकारी युवराज

होने के नाते अनेकानेक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं। उसी में उसकी गरिमा और सार्थकता है। यदि पेट प्रजनन तक, लोभ-मोह तक उसकी गतिविधियाँ सीमित रहें तो उसे नरपशु के अतिरिक्त और क्या कहा जायेगा? लोभ-मोह के साथ अहंकार और जुड़ जाने पर तो बात और भी अधिक बिगड़ती है। महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उभरी अहंमन्यता अनेक प्रकार के कुचक्र रचती और पतन-पराभव के गर्त में गिरती है। अहंता से प्रेरित व्यक्ति अनाचारी बनता है और आक्रामक भी। ऐसी दशा में उसका स्वरूप और भी भयंकर हो जाता है। दुष्ट दुरात्मा एवं नर-पिशाच स्तर की आसुरी गतिविधियाँ अपनाता है। इस प्रकार मनुष्य जीवन जहाँ श्रेष्ठ सौभाग्य का प्रतीक था, वहाँ वह दुर्भाग्य और दुर्गति का कारण ही बनता है। इसी को कहते हैं—वरदान को अभिशाप बना लेना। दोनों ही दिशाएँ हर किसी के लिए खुली हैं। जो इनमें से जिसे चाहता है, उसे चुन लेता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप जो है।

साधकों में भिन्नता देखी जाती है। उनके भिन्न-भिन्न इष्ट देव उपास्य होते हैं। उनसे अनुग्रह अनुकंपा की आशा की जाती है और विभिन्न मनोकामनाएँ पूर्ण करने की अपेक्षा रखी जाती है। इनमें से कितने सफल होते हैं, इस संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि पराधीनता की स्थिति में स्वामी की इच्छा पर सब कुछ निर्भर रहता है। सेवक तो अनुनय-विनय ही करता रह सकता है, किंतु जीवन देवता के संबंध में यह बात नहीं है। उसकी अभ्यर्थना सही रूप में बन पड़ने पर वह सब कुछ इसी कल्पवृक्ष के नीचे प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी कहीं अन्यत्र से पाने की आशा लगाई जाती है।

ब्रह्मांड का छोटा सा रूप पिंड परमाणु है। जो ब्रह्मांड में है वह सब कुछ पदार्थ के सबसे छोटे घटक परमाणु में भी विद्यमान है और सौर मंडल की समस्त क्रिया-प्रक्रिया अपने में धारण किए हुए है। इसे विज्ञानवेत्ताओं ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसी

प्रतिपादन का दूसरा पक्ष यह है कि परमसत्ता ब्रह्मांडीय चेतना का छोटा किंतु समग्र प्रतीक जीव है। वेदांत दर्शन के अनुसार परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा है। तत्त्वदर्शन के अनुसार इसी काय कलेवर में समस्त देवताओं का निवास है। परब्रह्म की दिव्य क्षमताओं का समस्त वैभव जीवब्रह्म के प्रसुप्त संस्थानों में समग्र रूप से विद्यमान है। यदि उन्हें जगाया जा सके तो विज्ञात अतींद्रिय क्षमताएँ और अविज्ञात दिव्य विभूतियाँ जाग्रत, सक्षम एवं क्रियाशील हो सकती हैं। तपस्वी, योगी, ऋषि, मनीषि, महामानव सिद्धपुरुष ऐसी ही विभूतियों से संपन्न देखे गए हैं। तथ्य शाश्वत और सनातन हैं। जो कभी हो चुका है, वह अब भी हो सकता है। जीवन देवता की साधना से ही महा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। कस्तूरी के हिरण जैसी बात है। बाहर खोजने में थकान और खीझ ही हाथ लगती है। शांति तब मिलती है, जब उस सुगंध का केंद्र अपनी ही नाभि में होने का पता चलता है। परमात्मा के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए अन्यत्र खोजबीन करने की योजना व्यर्थ है। वह एक देशकाल तक सीमित नहीं है, कलेवरधारी भी नहीं। उसे अति निकटवर्ती क्षेत्र में देखना हो तो वह अपना अंतःकरण ही हो सकता है। समग्र जीवन इसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है।

गीताकार ने उस परब्रह्म को श्रद्धा में ही समाहित बताया है और कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा हो, वह वैसा ही है; जो अपने को जैसा मानता है, वह वैसा ही बन जाता है। यदि अपने को तुच्छ और हेय समझते रहा जाएगा तो व्यक्तित्व उसी ढाँचे में ढल जाएगा। जिसने अपने अंदर में महानता आरोपित की है, उसे अपना अस्तित्व मानवी गरिमा से ओत-प्रोत दिखाई पड़ेगा।

परमात्मा सब कुछ करने में समर्थ है। उसमें समस्त विभूतियाँ विद्यमान हैं। इसी शास्त्री वचन को यों भी कहा जा सकता है कि उसका प्रतीक प्रतिनिधि उत्तराधिकार युवराज भी, अपने सृजेता की विशेषताओं से संपन्न है। कठिनाई तब पड़ती है जब आत्मविस्मृति का अज्ञानांधकार अपनी सघनता से वस्तुस्थिति को आच्छादित कर

लेता है। अँधेरे में झाड़ी को भूत और रस्सी को साँप के रूप में देखा जाता है। जिधर भी कदम बढ़ाया जाय उधर ही ठोकरें लगती हैं, किंतु यदि प्रकाश की व्यवस्था बन जाए तो सब कुछ यथावत दिखाई पड़ेगा। आत्मबोध को उस प्रकाश का उदय माना जाता है, जिसमें अपने सही स्वरूप का आभास भी मिलता है और सही मार्ग ढूँढ़ने में भी विलंब नहीं लगता।

भेड़ों के झुंड में पले सिंह-शावक की कथा सर्वविदित है। अपने इर्द-गिर्द का वातावरण और प्रचलन मनुष्य को अपने समूह में ही घसीट ले जाता है। पर जब आत्मबोध होता है, तब पता चलता है कि आत्मसत्ता "**शुद्धोऽसि-बुद्धऽसि-निरंजनोऽसि**" के सिद्धांत को अक्षरशः चरितार्थ करती है। "मनुष्य भटका हुआ देवता है"— इस कथन में उसका सही विश्लेषण देखा जा सकता है। यदि भटकाव दूर हो जाय तो समझना चाहिए कि समस्त समस्याओं का हल निकल आया। समस्त भवबंधनों से छुटकारा मिल गया। मोक्ष और कुछ नहीं अपने संबंध में जो अचिंत्य चिंतनवश भूल हो गई है, उससे त्रण पा लेने का परम पुरुषार्थ है। मकड़ी अपने लिए जाला अपने भीतर का द्रव निकालकर स्वयं ही बुनती है, स्वयं ही उसमें उलझती और छटपटाती है, किंतु देखा यह भी गया है कि जब उसे उमंग उठती है तो उस जाले को समेट-बटोरकर स्वयं ही निगल भी जाती है। हेय जीवन स्वकृत है। जैसा सोचा गया, चाहा गया वैसी ही परिस्थितियाँ बन गईं। अब उसे बदलने का मन हो तो मान्यताओं, आकांक्षाओं और गतिविधियों को उलटने की देर है। निकृष्ट को उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। क्षुद्र से महान बना जा सकता है।

"साधना से सिद्धि" का सिद्धांत सर्वमान्य है। देखना इतना भर है कि साधना किसकी की जाय? अन्यान्य इष्टदेवों के बारे में कहा नहीं जा सकता कि उनका निर्धारित स्वरूप और स्वभाव वैसा है या नहीं, जैसा कि सोचा, जाना गया है। इसमें संदेह होने का कारण भी स्पष्ट है। समूची विश्व व्यवस्था एक है। सूर्य, चंद्र,

पवन आदि सार्वभौम है। ईश्वर भी सर्वजनीन है, सर्वव्यापी भी। फिर उसके अनेक रूप कैसे बने? अनेक आकार-प्रकार और गुण-स्वभाव का उसे कैसे देखा गया? मान्यता यदि यथार्थ है तो उसका स्वरूप सार्वभौम होना चाहिए। यदि वह मतमतांतरों के कारण अनेक प्रकार का होता है, तो समझना चाहिए कि यह मान्यताओं की ही चित्र-विचित्र अभिव्यक्तियाँ है। ऐसी दशा में सत्य तक कैसे पहुँचा जाय? प्रश्न का सही उत्तर यह है कि जीवन को ही जीवित जाग्रत देवता माना जाए। उसके ऊपर चढ़े कषाय-कल्मषों का परिमार्जन करने का प्रयत्न किया जाए। अंगार पर राख की परत जम जाने पर वह काला-कलूटा दिख पड़ता है, पर जब वह परत हटा दी जाती है तो भीतर छिपी अग्नि स्पष्ट दीखने लगती है। साधना का उद्देश्य इन आवरण आच्छादनों को हटा देना भर है। इसे प्रसुप्ति को जागरण में बदल देना ही कहा जा सकता है।

अध्यात्म विज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं ने अनेक प्रकार के साधना-उपचार बताए हैं। यदि गंभीरतापूर्वक उनका विश्लेषण-विवेचन किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह प्रतीक पूजा और कुछ नहीं मात्र आत्मपरिष्कार का ही बालबोध स्तर का प्रतिपादन है। पात्रता और प्रखरता का अभिवर्द्धन ही योग और तप का लक्ष्य है। पात्रता एक चुंबक है जो अपने उपयोग की वस्तुओं-शक्तियों को अपनी ओर सहज ही आकर्षित करती रहती है। मनुष्य में विकसित हुए देवत्व का चुंबक संसार में संव्याप्त शक्तियों और परिस्थितियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। जलाशय गहरे होते हैं। सब ओर से पानी सिमटकर इकट्ठा होने के लिए उनमें जा पहुँचता है। समुद्र में सभी नदियाँ जा मिलती हैं। यह उसकी गहराई का ही प्रतिफल है। पर्वत की चोटियों पर यदि शील की अधिकता से बर्फ जम भी जाय तो वह गरमी पड़ते ही पिघल जाता है और नदियों से होकर समुद्र में पहुँचकर रुकता है। इसी को कहते हैं— "पात्रता"। पात्रता का अभिवर्द्धन ही साधना का मूलभूत

उद्देश्य है। ईश्वर को न किसी की मनुहार चाहिए और न उपहार। वह छोटी-मोटी भेंट-पूजाओं से या स्तवन गुणगान से प्रसन्न नहीं होता। ऐसी प्रकृति तो क्षुद्र लोगों की होती है। भगवान का ऐसा मानस नहीं। वह न्यायनिष्ठ और विवेकवान है। व्यक्तित्व में उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समावेश होने पर जो गरिमा उभरती है उसी के आधार पर वह प्रसन्न होता और अनुग्रह बरसाता है। उसे फुसलाने का प्रयास करने वालों की बालक्रीड़ा निराशा ही प्रदान करती है।

ऋषि ने पूछा— "**कस्मै देवाय हविषा विधेम्**" अर्थात "हम किस देवता के लिए भजन करें"? उसका सुनिश्चित उत्तर है— आत्मदेव के लिए। अपने आप को चिंतन, चरित्र और व्यवहार की कसौटियों पर खरा सिद्ध करना ही वह स्थिति है जिसे सौ टंच सोना कहते हैं। पेड़ पर फल फूल ऊपर से टपककर नहीं लदते, वरन् जड़ें जमीन से जो रस खींचती हैं उसी से वृक्ष बढ़ता है और फलता-फूलता है। जड़ें अपने अंदर है, जो समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। इसी प्रखरता के आधार पर वे सिद्धियाँ-विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनके आधार पर आध्यात्मिक महानता और भौतिक प्रगतिशीलता के उभयपक्षीय लाभ मिलते हैं। यही उपासना, साधना और आराधना का समन्वित स्वरूप है। यही वह साधना है जिसके आधार पर सिद्धियाँ और सफलताएँ सुनिश्चित बनती हैं। दूसरे के सामने हाथ पसारने, गिड़गिड़ाने भर से पात्रता के अभाव में कुछ प्राप्त नहीं होता। भले ही वह दानी परमेश्वर ही क्यों न हो! कहा गया है कि ईश्वर केवल उनकी सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं, अपनी सहायता करने को तत्पर हैं। आत्मपरिष्कार, आत्मशोधन, यही जीवन साधना है। इसी को परम पुरुषार्थ कहा गया है। जिन्होंने इस लक्ष्य को समझा तो जानना चाहिए कि उन्होंने अध्यात्म तत्त्वज्ञान का रहस्य और मार्ग हस्तगत कर लिया। चरम लक्ष्य तक पहुँचने का राजमार्ग पा लिया।

त्रिविध प्रयोगों का संगम-समागम

गंगा, यमुना, सरस्वती के मिलन से तीर्थराज त्रिवेणी संगम बनता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवाधिदेव हैं। इसी प्रकार सरस्वती, लक्ष्मी, काली शक्तियों की अधिष्ठात्री हैं। मृत्यु लोक, पाताल और स्वर्ग ये तीन लोक हैं। गायत्री के तीन चरण हैं, जिन्हें वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता के नाम से जाना जाता है। जीवन सत्ता के भी तीन पक्ष हैं, जिन्हें चिंतन, चरित्र और व्यवहार कहते हैं। इन्हीं को ईश्वर, जीव, प्रकृति कहा गया है। तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करना हो तो इन्हें आत्मा, शरीर और संसार कह सकते हैं। यह त्रिवर्ग ही हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उद्‌भव, अभिवर्द्धन और विलयन के रूप में प्रकृति की अनेकानेक हलचलें इसी आधार पर चलती रहती हैं।

जीवन तीन भागों में बँटा हुआ है—(१) आत्मा, (२) शरीर और (३) पदार्थ संपर्क। शरीर को स्वस्थ और सुंदर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। आत्मा को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाया जाता है तथा संसार में से वैभव और विलास के सुविधा-साधना सँजोए जाते हैं। परिवार समेत समूचा संपर्क क्षेत्र भी इसी परिधि में आता है। जीवन साधना का समग्र रूप वह है जिसमें इन तीनों का स्तर ऐसा बना रहे, जिससे प्रगति और शांति की सुव्यवस्था बनी रहे।

इन तीनों में प्रधान चेतना है, जिसे आत्मा भी कह सकते हैं। दृष्टिकोण इसी के स्तर पर विर्निमित होता है। इच्छाओं, भावनाओं मान्यताओं का रुझान किस ओर हो, दिशाधारा और रीति-नीति क्या अपनाई जाय, इसका निर्णय अंत:करण ही करता है। उसी के अनुरूप गुण, कर्म, स्वभाव बनते हैं। किस दिशा में चला जाय? क्या किया जाय? इसके निमित्त संकल्प उठना और प्रयत्न बन पड़ना भी आत्मिक क्षेत्र का निर्धारण है। इसीलिए आत्मबल को जीवन की सर्वोपरि संपदा एवं सफलता माना गया है। इसी के आधार पर संयमजन्य स्वास्थ्य में प्रगति होती है। मन में ओजस्,

तेजस् और वर्चस्कारी प्रतिभा चमकती है। बहुमुखी संपदाएँ इसी पर निर्भर हैं। इसलिए जीवन साधना का अर्थ प्रधानतया आत्मिक प्रगति होता है। वह गिरती-उठती है, तो समूचा जीवन गिरने-उठने लगता है। इसलिए जीवन साधना को आत्मोत्कर्ष प्रधान मानना चाहिए। उसी के आधार पर शरीर व्यवस्था, साधन संचय और जन संपर्क का ढाँचा खड़ा करना चाहिए। ऐसा करने पर तीनों ही क्षेत्र सुव्यवस्थित बनते रहते हैं और जीवन को समग्र प्रगति, सफलता या सार्थकता के लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकता है।

आत्मिक प्रगति का सार्वभौम उपाय एक ही है—क्रियाकृत्यों के माध्यम से आत्मशिक्षण। इसे प्रतीक पूजा भी कह सकते हैं। मनुष्य के मानस की बनावट ऐसी है कि वह किन्ही जानकारियों से अवगत तो हो जाता है, पर उसे व्यवहार में उतारना क्रिया अभ्यास के बिना संभव नहीं होता। यह अभ्यास ही वे उपासना कृत्य है, जिन्हें योगाभ्यास, तपश्चर्या, जप, ध्यान, प्राणायाम, प्रतीक पूजा आदि के नाम से जाना जाता है। इनमें अंग-संचालन, मन का केंद्रीयकरण एवं उपचार सामग्री का प्रयोग ये तीनों ही आते हैं। अनेक धर्म संप्रदायों में पूजा विधान अलग-अलग प्रकार से हैं, तो भी उनका अभिप्राय और उद्देश्य एक ही है—आत्मशिक्षण भाव-संवेदनाओं का उन्नयन। यदि यह लक्ष्य जुड़ा हुआ न होता तो उसका स्वरूप मात्र चिन्ह पूजा जैसा लकीर पीटने जैसा रह जाता है। निष्प्राण शरीर का मात्र आकार तो बना रहता है, पर वह कुछ कर सकने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार ऐसे पूजा-कृत्य, जिसमें साधक की भाव-संवेदना के उन्नयन का उद्देश्य पूरा न होता हो आत्मशिक्षण और आत्मिक प्रगति का प्रयोजन पूरा न कर सकेंगे।

इन दिनों यही चल रहा है। लोग मात्र पूजाकृत्यों के विधान भर किसी प्रकार पूरे करते हैं और उसके साथ भाव-संवेदनाओं को जोड़ने का प्रयत्न नहीं करते, आवश्यकता तक नहीं समझते। फलतः उनमें संलग्न लोगों में से अधिकांश के जीवन में विकास

के कोई लक्षण दीख नहीं पड़ते। कृत्यों से देवता को प्रसन्न करके उनसे मन चाहे वरदान माँगने की बात की कोई तुक नहीं। इसलिए उस बेतुकी प्रक्रिया का अभीष्ट परिणाम हो भी कैसे सकता है? एक ही देवता के दो भक्त परस्पर शत्रु भी हो सकते हैं। दोनों अपनी-अपनी मरजी की याचना कर सकते हैं। ऐसी दशा में देवता असमंजस में फँस सकता है कि किसकी मनोकामना पूरी करें? किसकी न करें? फिर देवता पर भी रिश्वतखोर होने का चापलूसी पसंद सामंत जैसा स्तर होने का आरोप लगता है। कितने लोग हैं, जो पूजाकृत्य अपनाने के साथ इस गंभीरता में उतरते हैं और यथार्थता को समझने का प्रयत्न करते हैं? अंधी भेड़चाल अपनाने पर समय की बरबादी के अतिरिक्त और कुछ हस्तगत हो भी नहीं सकता।

हमें यथार्थता समझनी चाहिए और यह यथार्थवादी क्रम अपनाना चाहिए जिससे आत्मिक प्रगति के लक्ष्य तक पहुँचा और उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई सर्वतोमुखी प्रगति का लाभ उठाया जा सके।

शरीर पोषण के लिए तीन अनिवार्य साधनों की आवश्यकता होती है—(१) आहार, (२) जल और (३) वायु। ठीक इसी प्रकार आत्मिक प्रगति की आवश्यकता पूरी करने के लिए तीन माध्यम अपनाने होते हैं—(१) उपासना, (२) साधना और (३) आराधना। इन शब्दों का और भी अधिक स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए।

उपासना का अर्थ है—निकट बैठना। किसके? ईश्वर के। ईश्वर निराकार है। इसकी प्रतिमा या छवि तो ध्यान-धारणा की सुविधा के लिए विनिर्मित की जाती है। मानवी अंतःकरण के साथ उसकी घनिष्ठता उत्कृष्ट चिंतन के आदर्शवादी भाव संवेदन के रूप में ही होती है। यही भक्ति का, ईश्वर सान्निध्य का, ईश्वर दर्शन का वास्तविक रूप है। यदि साकार रूप में उसका चिंतन करना हो तो किसी कल्पित प्रतिमा में इन्ही दिव्य संवेदनाओं के

होने की मान्यता और उसके साथ अविच्छिन्न जुड़े होने के रूप में किया भी जा सकता है। ऐसे महामानव जिन्होंने आदर्शों का परिपालन और लोकमंगल के लिए समर्पित होने के रूप में अपने जीवन का उत्सर्ग किया, उन्हें भी प्रतीक माना जा सकता है? राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी आदि को भगवान का अंशावतार कहा जा सकता है। उन्हें इष्ट मानकर उनके ढाँचे में ढलने का प्रयत्न किया जा सकता है। इस निमित्त किया गया पूजा प्रयास उपासना कहा जाएगा।

दूसरा चरण है— साधना। जिसका पूरा नाम है जीवन साधना। इसे चरित्र निर्माण भी कहा जा सकता है। चिंतन में भाव-संवेदनाओं को समावेश तो उपासना क्षेत्र में चला जाता है, पर शरीरचर्या की धारा-विधा जीवन साधना में आती है। इसमें आहार-विहार, रहन-सहन, संयम, कर्त्तव्यों का परिपालन, सद्‌गुणों का अभिवर्द्धन, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन आदि आते हैं। संयमशील, अनुशासित और सुव्यवस्थित क्रिया-कलाप अपनाना जीवन साधना कहा जायगा। जिस प्रकार जंगली पशु को सरकस का प्रशिक्षित कलाकार बनाया जाता है। जिस प्रकार किसान ऊबड़-खाबड़ जमीन को समतल करके उसे उर्वर बनाता है, जिस प्रकार माली सुनियोजित ढंग से अपना उद्यान लगाता है और सुरम्य बनाता है, उसी प्रकार जीवन वैभव का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने लगना जीवन साधना है। व्यक्तित्व को पवित्र, प्रामाणिक, प्रखर बनाने की प्रक्रिया जीवन साधना है। यह बन पड़ने पर ही आत्मा में परमात्मा का अवतरण संभव होता है। धुले हुए कपड़े की ही रँगाई ठीक तरह होती है। चरित्रवान व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में भगवद् भक्त बनते हैं। दैवी वरदान ऐसे ही लोगों पर बरसते हैं। स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, तुष्टि, तृप्ति, शांति जैसी दिव्य विभूतियों से मात्र चरित्रवान ही संपन्न होते हैं उनमें सद्‌भावना, शालीनता, संसंस्कारिता के सभी लक्षण उभरे हुए दीखते हैं। सामान्य स्थिति में रहते हुए भी ऐसे ही लोग महामानव, देवमानव बनते हैं।

तीसरा चरण है— आराधना। इसे अभ्यर्थना, अर्चन भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसी को पुण्य परमार्थ-लोकमंगल जन-कल्याण आदि भी कहते हैं। यह संसार विराट ब्रह्म का साकार स्वरूप है। इसमें निवास करने वाले प्राणियों और पदार्थों का, परिस्थितियों की सुनियोजन करने में संलग्न रहना आराधना है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य प्रकारांतर से सभी का ऋणी है। इसकी भरपाई करने के लिए उसे परमार्थपरायण होना ही चाहिए।

साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चार आधार सर्वतोमुखी प्रगति के लिए आवश्यक माने गए हैं। जीवन साधना में स्वाध्याय की, संयमशीलता की और लोकमंगल के लिए निरंतर समयदान, अंशदान लगाते रहने की आवश्यकता पड़ती है। सेवा कार्यों के लिए समयदान, श्रमदान अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। इसके बिना पुण्य संचय की बात बनती ही नहीं। संयम तो अपने शरीर, मन और स्वभाव में स्वयं भी साधा जा सकता है, पर सेवाधर्म अपनाने के लिए समयदान के अतिरिक्त साधनदान की भी आवश्यकता पड़ती है। उपार्जित आजीविका का सारा भाग पेट परिवार के लिए ही खरच नहीं करते रहना चाहिए, वरन् उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश लोकमंगल के लिए भी नियमित और निश्चित रूप से निकालते रहना चाहिए। उपासना, साधना और आराधना को; चिंतन, चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करने की प्रक्रिया को नित्य कार्य में नित्य नियम में सम्मिलित रखना चाहिए। उनमें से किसी एक को यदाकदा कर लेने से काम नहीं चलता। भोजन, श्रम और शयन—ये तीनों ही नित्य करने पड़ते हैं। इनमें से किसी को यदाकदा न्यूनाधिक मात्रा में मनमर्जी से कर लिया जाया करे, तो उस अस्तव्यस्तता के रहते न तो स्वास्थ्य ठीक रह सकता है और न व्यवस्थित उपक्रम चल सकता है। फिर किसी प्रयोजन में सफल हो सकना तो बन ही किस प्रकार पड़े?

जीवन एक सुव्यवस्थित तथ्य है। वह न तो अस्त-व्यस्त है और न कभी कुछ करने, कभी न करने जैसा मनमौजीपन। पशु-पक्षी तक

एक नियमित प्रकृति व्यवस्था के अनुरूप जीवनयापन करते हैं। फिर मनुष्य तो सृष्टि का मुकुटमणि है। उसके ऊपर मात्र शरीर निर्वाह का ही नहीं, कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व के परिपालन का अनुशासन भी है। उसे मानवी उदारता के अनुरूप मर्यादाएँ पालनी और वर्जनाएँ छोड़नी पड़ती हैं। इतना ही नहीं, वह पुण्य परमार्थ भी विशेष पुरुषार्थ के रूप में अपनाना पड़ता है, जिसके लिए स्रष्टा ने अपना अजस्त्र अनुदान देते हुए आशा एवं अपेक्षा रखी है। इतना सब बन पड़ने पर ही उसे उस लक्ष्य की प्राप्ति होती है जिसे ईश्वर की प्राप्ति या महानता की उपलब्धि कहा जाता है।

जीवन साधना नकद धर्म है। इसके प्रतिफल प्राप्त करने के लिए लंबे समय की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। "इस हाथ दें, उस हाथ लें" का नकद सौदा इस मार्ग पर चलते हुए हर कदम पर फलित होता रहता है। एक कदम आगे बढ़ने पर मंजिल की दूरी उतनी फुट कम होती है, साथ ही जो पिछड़ापन था, वह पीछे छूटता है। इसी प्रकार जीवन साधना यदि तथ्यपूर्ण, तर्कसंगत और विवेकपूर्ण स्तर पर की गई है तो उसका प्रतिफल दो रूप में हाथों-हाथ मिलता चलता है। एक संचित पशु प्रवृत्तियों का अभ्यास छूटता है, वातावरण की गंदगी से ऊपर चढ़े कषाय-कल्मष घटते हैं। दूसरा लाभ यह होता है कि नरपशु से नरदेव बनने के लिए जो प्रगति करनी चाहिए उसकी व्यवस्था सही रूप से बन पड़ती है। स्वयं को अनुभव होता है कि व्यक्तित्व निरंतर उच्चस्तरीय बन रहा है। उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की दोनों ही उपलब्धियाँ निरंतर हस्तगत हो रही हैं। यही है वह उपलब्धि, जिसे जीवन की सार्थकता, सफलता एवं मनुष्य में देवत्व का प्रत्यक्ष अवतरण कहते हैं। तत्त्वज्ञान की भाषा में इसी को ईश्वरप्राप्ति, भव बंधनों से मुक्ति, परमसिद्धि अथवा स्वर्ग सोपान में प्रविष्टि कहा जाता है। इन सहज उपलब्धियों से वंचित इसलिए रहना पड़ता है कि न तो जीवन साधना का दर्शन ठीक तरह समझा जाता है और न जानकारी के अभाव में सही प्रयोग का अभ्यास बन पड़ता है।

त्रिविध भवबंधन एवं उनसे मुक्ति

साधना से तात्पर्य है— साध लेना, सधा लेना। पशु प्रशिक्षक यही करते रहते हैं। अनगढ़ एवं उच्छृंखल पशुओं को वे एक रीति-नीति सिखाते हैं, उनको अभ्यस्त बनाते हैं और उस स्थिति तक पहुँचाते हैं, जिसमें उस असंस्कृत प्राणी को उपयोगी समझा जा सके। उसके बढ़े हुए स्तर का मूल्यांकन हो सके। पालने वाला अपने को लाभान्वित हुआ देख सके। सिखाने वाला भी अपने प्रयास की सार्थकता देखते हुए प्रसन्न हो सके।

देखा यह जाता है कि भक्त भगवान को साधता है। उसको मूर्ख समझते हुए उसकी गलतियाँ निकालता रहता है। तरह-तरह के उलाहने देता है। साथ ही गिड़गिड़ाकर, नाक रगड़कर, खींसें निपोरकर अपना-अपना अनुचित उल्लू सीधा करने के लिए जाल-जंजाल बुनता है। प्रशंसा के पुल बाँधता है। छिटपुट भेंट चढ़ाकर उसे फुसलाने का प्रयत्न करता है। समझा जाता है कि सामान्य लोगों से व्यावहारिक जगत में आदान-प्रदान के आधार पर ही लेन-देन चलता है, पर ईश्वर या देवता ऐसे हैं जिन्हें वाणी की वाचालता तथा शारीरिक-मानसिक उचक-मचक करने भर से वशवर्ती नहीं किया जा सकता है। यह दार्शनिक भूल मनुष्य को एक प्रकार से छिपा हुआ नास्तिक बना देती है। प्रकट नास्तिक वे हैं जो प्रत्यक्षवाद के आधार पर ईश्वर की सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर न होने पर उसकी मान्यता से इनकार कर देते हैं। दूसरे छिपे नास्तिक वे हैं जो उससे पक्षपात की, मुफ्त में लंबी-चौड़ी मनोकामनाओं की पूर्ति चाहते रहते हैं। मनुष्य विधि व्यवस्था को तोड़ता-छोड़ता रहता है, पर ईश्वर के लिए यह संभव नहीं कि अपनी बनाई कर्मफल व्यवस्था का उल्लंघन करे या दूसरों को ऐसा करने के लिए उत्साहित करे। तथाकथित भक्त लोग ऐसी ही आशाएँ किया करते हैं। अंततः उन्हें निराश ही होना पड़ता है। इस निराशा की खीज और थकान से वे या तो साधना-विधान को मिथ्या बताते हैं या ईश्वर के निष्ठुर होने की मान्यता बनाते हैं। कई पाखंडी कुछ

भी हस्तगत न होने पर भी प्रवंचना रचते हैं और नकटा संप्रदाय की तरह अपनी सिद्धि-सफलता का बखान करते हैं। आज का आस्तिकवाद इसी विडंबना में फँसा हुआ है और वह लगभग नास्तिकवाद के स्तर पर जा पहुँचा है।

आवश्यकता है भ्रांतियों से निकलने और यथार्थता को अपनाने की। इस दिशा में मान्यताओं को अग्रगामी बनाते हुए हमें सोचना होगा कि जीवन साधना ही आध्यात्मिक स्वस्थता और बलिष्ठता है। इसी के बदले प्रत्यक्ष जीवन में मरण की प्रतीक्षा किए बिना, स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि का रसास्वादन करते रहा जा सकता है। उन लाभों को हस्तगत किया जा सकता है, जिनका उल्लेख अध्यात्म विधा की महत्ता बताते हुए शास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक किया है। सच्चे संतों-भक्तों का इतिहास भी विद्यमान है। खोजने पर प्रतीत होता है कि पूजा-पाठ भले ही उनका न्यूनाधिक रहा है, पर उन्होंने जीवन साधना के क्षेत्र में परिपूर्ण जागरूकता बरती। इसमें व्यतिक्रम नहीं आने दिया। न आदर्श की अवज्ञा की और न उपेक्षा बरती। भाव-संवेदनाओं में श्रद्धा, विचार बुद्धि में प्रज्ञा और लोक व्यवहार में शालीन सद्‌भावना की निष्ठा अपनाकर कोई भी सच्चे अर्थों में जीवन देवता का सच्चा साधक बन सकता है। उसका उपहार, वरदान भी उसे हाथोंहाथ मिलता चला जाता है।

ऋषियों, मनीषियों, संत-सुधारकों और वातावरण में ऊर्जा उभार देने वाले महामानवों की अनेकानेक साक्षियाँ विश्व इतिहास में भरी पड़ी हैं। इनमें से प्रत्येक को हर कसौटी पर जाँच-परखकर देखा जा सकता है कि उनमें से हर एक को अपना व्यक्तित्व उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध करना पड़ा है। इससे कम में किसी को भी न आत्मा की प्राप्ति हो सकी न परमात्मा की, न ऐसों का लोक बना, और न परलोक। पूजा को श्रृंगार माना जाता रहा है। स्वास्थ्य वास्तविक सुंदरता है। ऊपर से स्वस्थ व्यक्ति को वस्त्राभूषणों से, प्रसाधन सामग्री से सजाया भी जा सकता है। इसे सोने में सुगंध का संयोग बन पड़ा माना जा सकता है। जीवन साधना समग्र

स्वास्थ्य बनाने जैसी विधा है। उसके ऊपर पूजा-पाठ का शृंगार सजाया जाय तो शोभा और भी अधिक बढ़ेगी। इसमें सुरुचि तो है किंतु यह नहीं माना जाना चाहिए कि मात्र शृंगार साधनों के सहारे किसी जीर्ण-जर्जर, रुग्ण या मृत शरीर को सुंदर बना दिया जाय तो प्रयोजन सध सकता है। इससे तो उलटा उपहास ही बढ़ता है। इसके विपरीत यदि कोई हृष्ट-पुष्ट पहलवान मात्र लँगोट पहनकर अखाड़े में उतरता है तो भी उसकी शोभा बढ़ जाती है। ठीक इसी प्रकार जीवन को सुसंस्कृत बना लेने वाले यदि पूजा-अर्चा के लिए कम समय निकाल पाते हैं तो भी काम चल जाता है।

अध्यात्म विज्ञान के साधकों को अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन करना पड़ता है। उन्हें सोचना होता है कि मानव जीवन की बहुमूल्य धरोहर का इसप्रकार उपयोग करना है, जिससे शरीर का निर्वाह लोक व्यवहार भी चलता रहे, पर साथ ही आत्मिक अपूर्णता को पूरी करने का चरम लक्ष्य भी प्राप्त हो सके। ईश्वर के दरबार में पहुँचकर सीना तानकर यह कहा जा सके कि जो अमानत जिस प्रयोजन के लिए सौंपी गई थी, उसे उसी हेतु सही रूप में प्रयुक्त किया गया।

इस मार्ग में सबसे बड़ी रुकावटें तीन हैं। इन्हीं को रावण, कुंभकरण, मेघनाद कहा गया है। यह दैवी भागवत के महिषासुर, मधुकैटभ, रक्तबीज हैं। ये प्रायः साथ लगे रहते हैं और पीछा नहीं छोड़ते। इन्हीं के कारण मनुष्य पतन और पराभव के गर्त में जा गिरता है। पशु, प्रेत और पिशाच की जिंदगी जीता है। नर-वानर और नर-पामर के रूप में इन्हीं के चंगुल में फँसे हुए लोगों को देखा जाता है। ये तीन हैं— लोभ, मोह एवं अहंकार। वासना, तृष्णा और कुत्सा इन्हीं के कारण उत्पन्न होती है।

लोक विजय के लिए सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत अपनाना पड़ता है। औसत नागरिक स्तर के निर्वाह में संतोष करना पड़ता है। ईमानदारी और परिश्रम की कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है। लालची के लिए अनीति अपनाए बिना तृष्णा की पूर्ति कर सकना

किसी भी प्रकार संभव नहीं होता। जो व्यक्ति विलास में अधिक खरच करता है, वह प्रकारांतर से दूसरों को उतना ही अभावग्रस्त रहने के लिए मजबूर करता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने परिग्रह को पाप बताया है। विलासी, संग्रही, अपव्ययी की भी ऐसी ही निंदा की गई है।

अधिक कमाया जा सकता है, पर उसमें से निजी निर्वाह में सीमित व्यय करके शेष बचत को गिरों को उठाने, उठों को उछालने और सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन में लगाया जाना चाहिए। राजा जनक जैसे उदाहरणों की कमी नहीं। मितव्ययी अनेक दुर्व्यसनों और अनाचारों से बचता है। ऐसी हविश उसे सताती नहीं जिसके लिए अनाचार पर उतारू होना पड़े। साधु-ब्राह्मणों की यही परंपरा रही है। सज्जनों की शालीनता भी उसी आधार पर फलती-फूलती रही है। जीवन साधना के उस प्रथम अवरोध 'लोभ' को नियंत्रित कराने वाला दृष्टिकोण हर जीवन साथना के साधक को अपनाना ही चाहिए।

मोह वस्तुओं से भी होता है और व्यक्तियों से भी। छोटे दायरे में आत्मीयता सीमाबद्ध करना ही मोह है। उसके रहते हृदय की विशालता चरितार्थ ही नहीं होती। अपना शरीर और परिवार ही सब कुछ दिखाई पड़ता है। उन्हीं के लिए मरने-खपने के कुचक्र में फँसे रहना पड़ता है। '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' और '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' के दो आत्मवादी सिद्धांत हैं। इनमें से एक को भी 'मोहग्रस्त' कार्यान्वित नहीं कर सकता। इसलिए अपने में सबको और सबमें अपने को देखने की दृष्टि विकसित करना जीवन साधना के लिए आवश्यक माना गया है।

परिवार छोटे से छोटा रखा जाय। पूर्ववर्ती अभिभावकों, बड़ों और आश्रितों के ऋणों को चुकाने की ही व्यवस्था नहीं बन पाती तो नये अतिथियों को क्यों न्यौत बुलाया जाय? समय की विषमता को देखते हुए अनावश्यक बच्चे उत्पन्न कर परिवार का भार बढ़ाना परले सिरे की भूल है। समान विचारों का साथी-सहयोगी मिले तो विवाह करने में हर्ज नहीं, पर वह एकदूसरे की सहायता सेवा करते हुए

प्रगतिपथ पर अग्रसर होने के लिए ही किया जाना चाहिए। जिन्हें संतान की बहुत ललक हो, वे निर्धनों के बच्चे पालने के लिए ले सकते हैं। परिवार को स्वावलंबी और सुसंस्कारी बनाना पर्याप्त है। औलाद के लिए विपुल संपदा उत्तराधिकार में छोड़ मरने की भूल किसी को नहीं करनी चाहिए। मुफ्त का माल किसी को भी हजम नहीं होता। वह दुर्बुद्धि और दुर्गुण ही उत्पन्न करता है। संतान पर यह भार लदेगा तो उसका अपकार ही होगा।

पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाया जाना चाहिए, पर उस कीचड़ में इतनी गहराई तक नहीं फँसना चाहिए कि उबर सकना संभव न हो सके। मोह को भव बंधनों में से प्रमुख माना गया है। उसी संकीर्ण दायरे में जकड़े हुए लोग, लोकमंगल का कर्त्तव्य पालन कर ही नहीं पाते। जिन्हें सभी के प्रति पारिवारिकता का भाव अपनाने का अवसर मिलता है, उनके लिए हर किसी को आत्मा मानने का, सभी की सेवा-सहायता करने का आनंद मिलता है।

अहंकार मोटे अर्थों में घमंड समझा जाता है। अकड़ना, उद्धत-अशिष्ट व्यवहार करना, क्रोधग्रस्त रहना अहंकार की निशानी है। पर वस्तुतः वह और भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। फैशन, सजधज, शृंगार, ठाठ-बाट, अपव्यय, सस्ता बड़प्पन आदि अहंकार परिवार के ही सदस्य हैं। लोग शेखीखोरी के लिए ढेरों समय, श्रम और पैसा खरच करते देखे जाते हैं। यह भी एक प्रकार का नशा है, जिसमें अपने को भले ही मजा आता हो, पर हर विचारशील को इसमें क्षुद्रता की, बचकानेपन की ही गंध आती है। इस विडंबना को लिए चित्र-विचित्र प्रवंचनाएँ रचनी पड़ती हैं। ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न करनें में भी अहंता की ही प्रमुख भूमिका रहती है। कलह और विग्रह प्रायः उसी कारण उत्पन्न होते हैं। आदमी की विशिष्टता अपनी विनयशीलता एवं दूसरों के सम्मान में निहित है। उसी कसौटी पर किसी की सज्जनता परखी जाती है। अहंकारी से उन सद्‌गुणों में से एक भी नहीं निभ पाता। अहंभाव को आत्मघाती शत्रु माना गया है। ऐसे लोगों से आत्मसाधना तो बन ही नहीं पाती। उन पर उद्‌डंता व दूसरों को नीचा दिखाने का

भूत सदैव चढ़ा रहता है और दूसरों के गिराने एवं नीचा दिखाने की ही ललक उठती रहती है। ऐसे लोग अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने में ही लगे रहते हैं। इन परिस्थितियों में आत्मोत्कर्ष और आत्मपरिष्कार कैसे बन पड़े?

लोभ, मोह और अहंकार के तीन भारी पत्थर जिन्होंने सिर पर लाद रखे हैं, उनके लिए जीवन साधना की लंबी और ऊँची मंजिल पर चल सकना, चल पड़ना असंभव हो जाता है। भले ही कोई कितना पूजा-पाठ क्यों न करता रहे! जिन्हें तथ्यान्वेषी बनना है, उन्हें इन तीन शत्रुओं से अपना पीछे छुड़ाना ही चाहिए।

हलकी वस्तुएँ पानी पर तैरती है, किंतु भारी होने पर वे डूब जाती हैं। जो लोभ, मोह और अहंकार रूपी भारी पत्थर अपनी पीठ पर लादे हुए हैं, उन्हें भवसागर में डूबना ही पड़ेगा। जिन्हें तरना, तैरना है, उन्हें इन तीनों भारों को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनेकानेक दोष-दुर्गुणों, कषाय-कल्मषों का वर्गीकरण विभाजन करने पर उनकी संख्या हजारों हो सकती है। पर उनके मूल उद्‌गम यही तीन लोभ, मोह और अहंकार हैं। इन्ही भव बंधनों से मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर जकड़े पड़े हैं। इनका उन्मूलन किए बिना आत्मा को उस स्वतंत्रता का लाभ नहीं मिल सकता जिसे मोक्ष कहते हैं। इन तीनों पर कड़ी नजर रखी जाय। इन्हें अपना संयुक्त शत्रु माना जाए। इनसे पीछा छुड़ाने के लिए हर दिन नियमित रूप से प्रयास जारी रखा जाए। एकदम तो सब कुछ सही हो जाना कठिन है, पर उन्हें नित्यप्रति यथासंभव घटाते-हटाते चलने की प्रक्रिया जारी रखने पर सुधार क्रम में सफलता मिलती ही चलती है और एक दिन ऐसा भी आता है,जब इनसे पूरी तरह छुटकारा पाकर बंधन मुक्त हुआ जा सके।

सार्थक, सुलभ एवं समग्र साधना

पदार्थ से शरीर और शरीर से आत्मा का महत्त्व अधिक है। इसी प्रकार समृद्धि-संपन्नता का, प्रगति और योग्यता का, आत्मिक प्रखरता,

प्रतिभा का स्तर भी क्रम से, एक से एक सीढ़ी ऊँचाई का समझा जा सकता है। आंतरिक आस्थाएँ ही वे विभूतियाँ हैं, जो व्यक्ति के चिंतन,चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करती हैं। व्यक्तित्व को प्रखर, प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बनाती है। इसी आधार पर वे क्षमताएँ उभरती हैं, जो अनेकानेक सफलताओं की उद्‌गम स्रोत हैं।

आत्मबल के आधार पर अन्य सभी बल हस्तगत किए जा सकते हैं। इसी के आधार पर उपलब्धियों का सदुपयोग बन पड़ता है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता रहने पर भी उन्हें व्यक्तित्व की उत्कृष्टता के आधार पर अनुकूल बनाया ना सकता है। संसार के इतिहास में ऐसे अगणित व्यक्ति हुए हैं, जिनकी प्रारंभिक परिस्थितयाँ गई-गुजरी थीं। निर्वाह के साधनों तक की कमी पड़ती थी, फिर प्रगति के सरंजाम जुट सकना और भी कठिन, लगभग असंभव दीख पड़ता था। इतने पर भी वे व्यक्तित्व की प्रामाणिता के आधार पर सभी के लिए विश्वस्त एवं आकर्षक बन गए। उनका चुंबकत्व व्यक्तियों, साधनों और परिस्थितियों को अनुकूल बनाता चला गया और वे अपने पुरुषार्थ के साथ उस सद्‌भाव का तालमेल बिठाते हुए दिन-दिन ऊँचे उठते चले गए और अंततः सफलता के सर्वोच्च शिखर तक जा पहुँचने में समर्थ हुए। ऐसे अवसरों पर व्यक्तित्व की उत्कृष्टता को ही श्रेय दिया जाता है। इस उपलब्धि को ही आत्मबल का चमत्कार कहते हैं।

इसके विपरीत ऐसे भी अनेकानेक प्रसंग सामने आते रहते हैं, जिसमें सभी अनुकूलताएँ रहने पर भी लोग अपनी दुर्बुद्धि के कारण दिन-दिन घटते और गिरते चले गए। पूर्वजों के कमाए धन को दुर्व्यसनों में उड़ा दिया। आलस्य और प्रमाद में ग्रसित रहकर अपनी क्षमताओं और संपदाओं को गलाते चले गए। कई अनाचार के मार्ग पर चल पड़े और दुर्गति भुगतने के लिए मजबूर हुए। इसमें उनके मानस की गुण, कर्म, स्वभाव की निकृष्टता ने अनेक सुविधाएँ रहते हुए भी उन्हें असुविधा भरी परिस्थितियों तक पहुँचा दिया।

चेतना की शक्ति संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य ही, रेल, जहाज कारखाने आदि बनाता है। विज्ञान के नित नए आविष्कार करता है। यहाँ तक कि धर्म और दर्शन, आचार और विचार भी उसी के रचे हुए हैं। ईश्वर की साकार रूप में कल्पना तथा स्थापना करना भी उसी का बुद्धि-कौशल है। इस अनगढ़ धरातल को, सुविधाओं, सुंदरताओं, उपलब्धियों से भरापूरा बनाना भी मनुष्य का ही काम है। यहाँ मनुष्य शब्द में किसी शरीर या वैभव को नहीं समझा जाना चाहिए। विशेषताएँ चेतना के साथ जुड़ी होती हैं। इसे भी प्रयत्न पूर्वक उठाया या गिराया जा सकता है। शरीर को बलिष्ठ या दुर्बल बना लेना प्रायः मनुष्य की अपनी, रीति-नीति पर निर्भर रहता है। संपन्न और विपन्न भी लोग अपनी हरकतों से ही बनते हैं। उठना और गिरना अपने हाथ की बात है। मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता आप कहा जाता है। यहाँ व्यक्ति का मतलब आत्मचेतना से ही समझा जाना चाहिए। वही प्रगतिशीलता का उद्गम है। इसी क्षेत्र में पतन-पराभव के विषैले बीजांकुर भी जमे होते हैं। सद्गुणी लोग अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी सुख-शांति का वातावरण बना लेते हैं। अंतःचेतना से समुन्नत होने पर समूचा वातावरण, संपर्क क्षेत्र सुख-शांति से भर जाता है। इसके विपरीत जिनका मानस दोष-दुर्गुणों से भरा हुआ है, वे अच्छी-भली परिस्थितियों में भी दुर्गति और अवगति का कठोर दुःख सहते हैं।

वैभव अर्जित करने के अनेक तरीके सीखे और सिखाए जाते हैं। शरीर को नीरोग रखने के लिए भी व्यायामशालाओं, स्वास्थ्य केंद्रों से लेकर अस्पतालों तक की अनेक व्यवस्थाएँ देखी जाती हैं। औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, शासकीय प्रबंध भी अनेक हैं, पर ऐसी व्यवस्थाएँ कम ही कहीं दीख पड़ती हैं, जिनसे चेतना को परिष्कृत एवं विकसित करने के लिए सार्थक, समर्थ एवं बुद्धि-संगत, सर्वोपयोगी आधार बन पड़ा हो।

प्रज्ञायोग एक ऐसी ही विधा है। इसे बोलचाल की भाषा में जीवन साधना भी कहा जा सकता है। इसमें जप, ध्यान, प्राणायाम,

संयम जैसे विधानों की व्यवस्था है। पर सब कुछ उतने तक ही सीमित नहीं है। उपासना में ध्यान धारणा स्तर के सभी कर्मकाण्ड आ जाते हैं। इसके साथ ही जीवन के हर क्षेत्र में मानवी गरिमा को उभारने और रुकावटें हटाने जैसे सभी पक्षों को जोड़कर रखा गया है। शरीरसंयम, समयसंयम, अर्थसंयम, विचारसंयम इस धारा के अलग न हो सकने वाले अंग हैं। दुर्गुणों के, कुसंस्कारों के निराकरण पर जहाँ जोर दिया गया है, वहाँ यह भी अनिवार्य माना गया है कि अबकी अपेक्षा अगले दिनों अधिक विवेकवान, चरित्रवान और पुरुषार्थपरायण बनने के लिए चिंतन तथा अभ्यास जारी रखा जाए। वास्तव में यह समग्रता ही जीवन साधना की विशेषता है। साधक को कर्त्तव्य क्षेत्र में धार्मिकता, मान्यता क्षेत्र में आत्मपरायणता और अध्यात्म क्षेत्र में दूरदर्शी विवेकशीलता उत्कृष्ट आदर्शवाद को अपनाने के लिए कहा जाता है। इन सर्वतोमुखी दिशाधाराओं में समुचित जागरुकता बरतने पर ही वह लाभ मिलता है, जिसे आत्मपरिष्कार के नाम से जाना जाता है। यह हर किसी के लिए सरल, संभव और स्वाभाविक भी है।

आत्मपरिष्कार के अन्य उपाय भी हो सकते हैं। पर जहाँ तक प्रज्ञा परिवार के प्रयोगों का संबंध है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि वह अपेक्षाकृत अधिक सरल, तर्कसंगत और व्यवस्थित हैं। इस संदर्भ में अनेक अभ्यासरत अनुभवियों की साक्षी भी सम्मिलित है।

आत्मिक प्रगति का महत्त्व समझा जाना चाहिए। व्यक्ति या राष्ट्र की उन्नति उसकी संपदा, शिक्षा, कुशलता आदि तक ही सीमित नहीं होती। शालीनता संपन्न व्यक्तित्व ही वह उद्गम होती है जिसके आधार पर अन्यान्य प्रकार की प्रगतियाँ तथा व्यवस्थाएँ अग्रणी बनती हैं, समर्थता का केंद्रबिंदु यही है। इस एकाकी विभूति के बल पर किसी भी उपयोगी दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है। किंतु यदि आत्मबल का अभाव रहा तो संकीर्ण स्वार्थपरता ही छाई रहेगी और उसके रहते कोई ऐसा प्रयोजन सध न सकेगा जिसे

आदर्शवादी एवं लोकोपयोगी भी कहा जा सके। यहाँ वह उक्ति पूरी तरह फिट बैठती है, जिसमें कहा गया है कि "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।"

अनेक प्रकार की समृद्धियों और विशेषताओं से लदा हुआ व्यक्ति अपने कौशल के बलबूते संपदा बटोर सकता है। सस्ती वाहवाही भी लूट सकता है, पर जब कभी मानवी गरिमा को कसौटी पर कसा जायेगा तो वह खोटा ही सिद्ध होगा। खोटा सिक्का अपने अस्तित्व से किसी को भ्रम में डाले रह सकता है, पर उस सुनिश्चित प्रगति का अधिकारी नहीं बन सकता जिसे 'महामानव' के नाम से जाना जाता है। जिसके लिए सभ्य, सुसंस्कृत, सज्जन, समुन्नत जैसे शब्दों का प्रयोग होता है।

संत परंपरा के अनेकानेक महान ऋषियों, लोकसेवियों एवं युगनिर्माताओं से जो प्रबल पुरुषार्थ बन पड़े, उनमें आंतरिक उत्कृष्टता ही प्रमुख कारण रही। उसी के आधार पर वे निजी जीवन में आत्मसंतोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह की निरंतर वर्षा होती अनुभव करते हैं। अपने व्यक्तित्व, कर्तृत्व के रूप में ऐसा अनुकरणीय उदाहरण पीछे वालों के लिए छोड़ जाते हैं, जिनका अनुकरण करते हुए गिरों की उठाने और उठों को उछालने जैसे अवसर हस्तगत होते रहें। यही है जीवन की लक्ष्यपूर्ति एवं एकमात्र सार्थकता। प्रज्ञायोग की जीवन साधना इसी महती प्रयोजन की पूर्ति करती है।

व्यावहारिक साधना के चार पक्ष

ज्ञान और कर्म के संयोग से ही प्रगतिपथ पर चल सकना, सफलता वरण करने की स्थिति तक पहुँचना संभव होता है। अध्यात्म विज्ञान में भी तत्त्वदर्शन का सही स्वरूप समझने के उपरांत दूसरा चरण यही रहता है कि उसे क्रियान्वित करने की, पूजा-अर्चा की विधि व्यवस्था ठीक बने। अध्यात्म की तत्वदर्शन, आत्मपरिष्कार और आत्मविकास के दो शब्दों में सन्निहित समझा जा सकता है। उपासना पक्ष की प्रतीक पूजा का तात्पर्य है—क्रिया

एवं साधनों के सहारे आत्मशिक्षण की आवश्यकता पूरी करना। कोई भी कर्मकाण्ड उसकी भावनाओं को हृदयंगम किए बिना पूर्ण नहीं हो सकता। मात्र कर्मकाण्ड को जादू का खेल समझते हुए बड़ी सफलता की आशा नहीं की जा सकती। क्रियाएँ जब जिसको जिस मात्रा में प्रभावित करेंगी, वह उसी मात्रा में सत्परिणाम प्राप्त कर सकने में सफल होगा।

सर्वजनीन सुलभ साधना का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए इन पृष्ठों पर प्रज्ञायोग नाम से वह विधान प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके सहारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में अन्यान्य उपाय-उपचारों की अपेक्षा अधिक सरलतापूर्वक कम समय में अधिक सफलता मिल सकती है।

प्रज्ञायोग की दो संध्याएँ अत्यधिक सरल और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। एक सबेरे आँख खुलते ही बिस्तर पर पड़े-पड़े पंद्रह मिनट "हर दिन नया जन्म" की भावना करने का उपक्रम है। दूसरा रात्रि को सोते समय यह अनुभव करना कि शयन एक प्रकार का दैनिक मरण है। जन्म और मरण यही दो जीवन सत्ता के ओर-छोर हैं। इन्हें सही रखा जाए तो मध्यवर्ती भाग सरलतापूर्वक संपन्न हो जाता है। बीजारोपण और फसल काटना, यही दो कृषि कार्य के प्रमुख अंग हैं। शेष तो लंबे समय तक चलने वाली किसान की सामान्य क्रिया-प्रक्रिया है। उसे तो सामान्य बुद्धि और सामान्य अभ्यास से भी चलाया जा सकता है। जाग्रति को प्रातःकाल की संध्या और शयन को रात्रि की संध्या कहा जा सकता है। दो बार की संध्याएँ सूर्योदय और सूर्यास्त के समय वाली मानी जाती है। पर उसके साथ जुड़ी आध्यात्मिक साधना प्रातःकाल आँख खुलते समय और रात्रि को सोने आँख बंद होने के समय की जा सकती है।

प्रज्ञायोग की प्रथम साधना को आत्मबोध कहते हैं। आँख खुलते ही यह भावना करनी चाहिए कि आज अपना नया जन्म हुआ। एक दिन ही जीना है। रात्रि को मरण की गोद में चले जाना

है। इस अवधि का सर्वोत्तम उपयोग करना ही जीवन साधना का महान लक्ष्य है। यही अपना परीक्षा क्रम है और उसी में भविष्य की सारी संभावना सन्निहित है।

मनुष्य जन्म जीवधारी के लिए सबसे बड़ा सौभाग्य है। इसका सदुपयोग बन पड़ना ही किसी की उच्चस्तरीय बुद्धिमत्ता का प्रमाण-परिचय है। उठते ही यह विचार करना चाहिए कि आज के एक दिन को संपूर्ण जीवन माना जाए और स्रष्टा की इस बहुमूल्य धरोहर का उन कार्यों में उपयोग किया जाए जिनके लिए इसे दिया गया है। इस आधार पर दिनभर की दिनचर्या इसी समय निर्धारित की जाए। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की वह रूपरेखा विनिर्मित की जाए जिसे सतर्कतापूर्वक पूरी करने पर यह माना जा सके कि आज का दिन एक बहुमूल्य जन्म पूरी तरह सार्थक हुआ। इस चिंतन के सभी पक्षों पर विचार करने में जितना अधिक समय लगे उतना कम है, पर इसे नित्यप्रति, नियमित रूप से करते रहने पर पंद्रह मिनट भी पर्याप्त हो सकते हैं। एक दिन की छूटी बात को अगले दिन पूरा किया जा सकता है।

दूसरी संध्या रात को सोते समय पूरी की जाती है, उसमें यह माना जाना चाहिए कि अब मृत्यु की गोद में जाया जा रहा है। भगवान के दरबार में जवाब देना होगा कि आज के समय का एक दिन के जीवन का किस प्रकार सदुपयोग बन पड़ा? इसके लिए दिनभर के समययापनपरक क्रिया-कलापों और विचारों के उतार-चढ़ावों की समीक्षा की जानी चाहिए। उसके उद्‌देश्य और स्तर को निष्पक्ष होकर परखना चाहिए तथा देखना चाहिए कि कितना उचित बन पड़ा और कितनी उसमें भूल या विकृति होती रही। जो सही हुआ उसके लिए अपनी प्रशंसा की जाए और जहाँ जो भूल हुई हो उसकी भरपाई अगले दिन करने की बात सोची जाए। पाप का प्रायश्चित शास्त्रकारों ने यही माना है कि उसकी क्षतिपूर्ति की जाए। आज का दिन जो गुजर गया, उसे लौटाया तो नहीं जा सकता, पर यह हो सकता है कि उसका प्रायश्चित अगले दिन किया जाए। अगले दिन के क्रिया-कलाप में

आज की कमी को पूरा करने की बात भी जोड़ ली जाए। इस प्रकार कुछ भार तो अवश्य बढ़ेगा, पर उसके परिमार्जन का और कोई उपाय भी तो नहीं है।

मृत्यु अवश्यंभावी है। लोग उसे भूल जाते हैं और बाल क्रीड़ा की तरह महत्त्वहीन कार्यों में जीवन बिता देते हैं। यदि यह ध्यान रखा जाए कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के उपरांत जो अलभ्य हस्तगत हुआ है, उसे इस प्रकार व्यतीत किया जाए जिससे भविष्य उज्ज्वल बने। देवमानव स्तर तक पहुँचाने की आशा बँधे। दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा मिले। स्रष्टा को, दायित्व निर्वाह की प्रामाणिकता का परिचय पाकर प्रसन्नता हो। पदोन्नति का सुयोग इस आधार पर उपलब्ध हो।

रात्रि को जिस प्रकार निश्चिततापूर्वक सोया जाता है, उसी प्रकार मरणोत्तर काल से लेकर पुनर्जन्म की मध्यावधि में भी ऐसी ही शांति रह सकती है। इसकी तैयारी इन्हीं दिनों करनी चाहिए। हँसी-खुशी से दिन बीतता हो तो रात्रि को गहरी नींद आती है। दिन यदि शांतिपूर्वक गुजारा जाए—श्रेष्ठता के साथ जुड़ा रहे तो मरणोत्तर विश्राम काल में नरक नहीं भुगतना पड़ेगा। स्वर्ग जैसी शांति का रसास्वादन मिलता रहेगा। इस प्रक्रिया को तत्त्व बोध कहा गया है।

प्रज्ञायोग के दो और चरण हैं जिनको दिन में पूरा किया जाता है। इनमें एक है—भोजन, दूसरा—मनन। भजन के लिए नित्य कर्म से निवृत्त होकर नियत पूजा स्थान पर पालथी मारकर बैठा जाता है। शरीर, मन और वाणी की शुद्धि के लिए जल द्वारा पवित्रीकरण, सिंचन, आचमन किया जाता है। देव प्रतिमा के रूप में गायत्री की छवि अथवा धूप-दीप में से कोई प्रतीक स्थापित करके इसे इष्ट, आराध्य माना जाता है। धूप, दीप, नैवेद्य, जल, अक्षत, पुष्प में से जो उपलब्ध हो उससे उसका पूजन किया जाता है। पूजन में प्रयुक्त वस्तुओं की तरह अपने जीवन में उन विशेषताओं को उत्पन्न करने की भावना की जाती है जो इन उपचार, साधनों में पाई जाती है।

चंदन समीपवर्तियों में सुगंध भरता है। दीपक अपने प्रभाव क्षेत्र में ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाता है। पुष्प हँसता है और खिलता रहता है। जल शीतलता का प्रतीक बनकर रहता है। अक्षत, नैवेद्य के पीछे समयदान, अंशदान परमार्थ प्रयोजन के लिए निकाले जाने की भावना है। इष्टदेव को सत्प्रवृत्ति का समुच्चय माना जाए। इन मान्यताओं के आधार पर देव पूजन समग्र बन पड़ता है।

अब जप और ध्यान की बारी आती है। दोनों एक साथ चल सकते हैं। गायत्री जप मानसिक हो तो भी ठीक है। जितनी देर करने का निश्चय हो उसका हिसाब माला या घड़ी के सहारे किया जाता है। जिन्हें गायत्री की अपेक्षा कोई अन्य मंत्र रुचिकर होवे उसे अपना सकते है। ॐकार भी सार्वभौम स्तर की जप मान्यता बन सकता है।

जप के साथ प्रात:काल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य का ध्यान किया जाय। भावना करनी चाहिए कि अपना खुला शरीर सूर्य के सम्मुख बैठा है। इष्ट की सूक्ष्म किरणें अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों में प्रवेश कर रही हैं। किरणें, ऊर्जा और आभा की प्रतीक हैं। ऊर्जा अर्थात् शक्ति, आभा अर्थात् प्रकाश प्रज्ञा। दोनों की समन्वय तीनों शरीरों में प्रवेश करके उन्हें प्रभावित करता है—ऐसी भावना की जानी चाहिए। प्रत्यक्ष शरीर में स्वास्थ्य और संयम, सूक्ष्म शरीर मस्तिष्क में विवेक और साहस, कारण शरीर अर्थात् अंत:करण में श्रद्धा, सद्‌भावना सूर्य किरणों के रूप में प्रवेश करके अस्तित्व की समग्र सत्ता को अनुप्राणित कर रही है। यह ध्यान धारण और मंत्र जप साथ-साथ नियत निर्धारित समय तक चालू रखे जाएँ और अंत में पूर्णाहुति में सूर्य को सम्मुख जल अर्घ्य दिया जाए। इसका तात्पर्य है—परमसत्ता के सम्मुख जलरूपी आत्मसत्ता का समर्पण। भजन भावना इतनी ही है। यदि नियत स्थान पर बैठ सकना संभव नहीं, सफर में चलने जैसी स्थिति हो तो वह सारे कृत्य मानसिक रूप से बिना किसी वस्तु की सहायता के भी किए जा सकते हैं।

प्रज्ञायोग साधना का चौथा चरण है— मनन। यह मध्याह्नोत्तर कभी भी, कहीं भी किया जा सकता है। समय पंद्रह मिनट हो, तो भी काम चल जाएगा। इसमें अपनी वर्तमान स्थिति की समीक्षा की जाती है और आदर्शों के मापदंड से जाँच-पड़ताल करने पर जो कमी प्रतीत हो, उसे पूरा करने की योजना बनानी पड़ती है। यही मनन है। इसके लिए एकांत स्थान ढूँढ़ना चाहिए। आँखें बंद करके अंतर्मुखी होना और आत्मसत्ता के संबंध में परिमार्जन परिष्कार की उभयपक्षीय योजना बनानी चाहिए। इसमें आज के दिन को प्रधान माना जाए। प्रात: से मध्याह्न तक जो सोचा और किया गया हो, उसे आदर्शों के मापदंड से जाँचना चाहिए और उस समय से लेकर सोते समय तक जो कुछ करना हो उसकी भावनात्मक योजना बनानी चाहिए, ताकि दिन के पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध और भी अच्छा बन पड़े।

आत्मसमीक्षा के चार मापदंड हैं—(१) इंद्रियसंयम, (२) समयसंयम, (३) अर्थसंयम, (४) विचारसंयम। देखना चाहिए कि इन चोरों में कहीं कोई व्यतिक्रम तो नहीं हो रहा है? जीभ स्वाद के नाम पर अभक्ष्य भक्षण तो नहीं करने लगी? वाणी से असंस्कृत वार्तालाप तो नहीं होता? कामुकता की प्रवृत्ति कहीं कुदृष्टि से तो नहीं उभर रही? असंयम से शरीर और मस्तिष्क खोखला तो नहीं हो रहा? शारीरिक और मानसिक स्वस्थता बनाए रखने के लिए इंद्रियनिग्रह अमोघ उपाय है।

समय संयम का अर्थ है— एक-एक क्षण की सदुपयोग। आलस्य-प्रमाद में, दुर्व्यसनों में दुर्गुणों के कुचक्र में फँसकर समय का एक अंश भी बरबाद न होने पाए। इसकी सुरक्षा और सदुपयोग पर पूरी-पूरी जागरूकता बरती जानी चाहिए। समय ही जीवन है। जिसने समय का सदुपयोग किया समझो कि उसने जीवन का परिपूर्ण लाभ उठा लिया।

तीसरा संयम है—अर्थसंयम। पैसा ईमानदारी और परिश्रमपूर्वक कमाया जाए। मुफ्तखोरी और बेईमानी का आश्रय न लिया जाए।

औसत भारतीय स्तर का जीवन जिया जाए। "सादा जीवन उच्च विचार" की नीति अपनाई जाए। विलास प्रदर्शन की मूर्खता में कुछ भी खरच न होने दिया जाए। कुरीतियों के नाम पर भी बरबादी न चले। बचत का एक बड़ अंश परमार्थ प्रयोजन में लगा सकने और पुण्य की पूँजी जमा करने का श्रेय उन्हीं को मिलता है, जो विवेकपूर्वक औचित्य का ध्यान रखते हुए खरच करते हैं।

चौथा संयम है— विचारसंयम। मस्तिष्क में हर घड़ी विचार उठते रहते हैं, कल्पनाएँ चलती रहती हैं। ये अनर्गल, अस्त-व्यस्त एवं अनैतिक स्तर के न हों, इसके लिए विवेक को एक चौकीदार की तरह नियुक्त कर देना चाहिए। उसका काम हो कुविचारों को सद्विचारों की टक्कर मारकर परास्त करना। अनगढ़ विचारों के स्थान पर रचनात्मक चिंतन का सिलसिला चलाना। विचार मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। वही कर्म के रूप में परिणत होती और परिस्थिति बनकर सामने आती है। जीवन को कल्पवृक्ष बनाने का श्रेय रचनात्मक विचारों का ही होता है। इस तथ्य को भली प्रकार समझते हुए चिंतन को मात्र रचनात्मक एवं उच्चस्तरीय विचारों में ही संलग्न रखना चाहिए।

साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चार पुरुषार्थों में जीवन की प्रगति एवं सफलता बन पड़ती है। इसलिए दिनचर्या में उन चारों के लिए समुचित स्थान रहे, उसकी जाँच-पड़ताल आत्मसमीक्षा के समय में निरंतर करनी चाहिए। आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्म-निर्माण और आत्मविकास की चतुर्दिक प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिए मध्याह्नातर काल की मनन साधना करनी चाहिए। इसे आत्मदर्शन समझा जाना चाहिए जो थोड़ी विकसित अवस्था में ईश्वर दर्शन के रूप में फलित होता है।

जीवन साधना के सुनिश्चित सूत्र

उपासना पक्ष के चार चरण पिछले पृष्ठों पर बताए जा चुके हैं—(१) प्रात:काल आँख खुलते ही नया जन्म, (२) रात्रि को सोते समय नित्य मरण, (३) नित्य कर्म से निवृत्त होने के बाद जप

ध्यान वाला भजन, (४) मध्याह्न के बाद मनन के क्रम में अपनी स्थिति का विवेचन और उदात्तीकरण। कुछ दिन के अभ्यास से इन चारों को दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बना लेना सरल संभव हो जाता है।

इष्टदेव के साथ अनन्य आत्मीयता स्थापित कर लेना, उसके ढाँचे में ढलने का प्रयत्न करना, यही सच्ची भगवद्‌भक्ति है। द्वैत को अद्वैत में बदलना इसी आधार पर बन पड़ता है। सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय परमात्मा के साथ लिपटने की वास्तविकता को इसी आधार पर परखा जा सकता है। जीवन क्रम में शालीनता, सद्‌भाव, उदारता, सेवा-संवेदना जैसी उमंगे अंतराल में उठती हैं या नहीं। आग के संपर्क में आकर ईंधन भी अग्नि बन जाता है। ईश्वर भक्त में अपने इष्टदेव की अनुरूपता उभरनी चाहिए। इस कसौटी पर हर किसी की भक्ति भावना में कितनी यथार्थता है— इसकी जाँच-परख की जा सकती है। भगवान की अनुग्रह भी इसी आधार पर जाँचा जाता है। जहाँ सूर्य की किरणें पड़ेंगी वहाँ गरमी और रोशनी अवश्य दृष्टिगोचर होगी। ईश्वर का सान्निध्य निश्चित रूप से भक्तजनों में प्रामाणिकता और प्रखरता की विभूतियाँ अवतरित करता है। इस आधार पर उसका चिंतन, चरित्र और व्यवहार उत्कृष्ट आदर्शवादिता की हर कसौटी पर खरा उतरता चला जाता है। सच्ची और झूठी भक्ति की परीक्षा हाथोंहाथ होती चलती है। यह प्रतीत होता रहता है कि समर्थ सत्ता की अनुग्रह हाथोंहाथ प्राप्त होने की मान्यता पर उपासना खरी उतरी या नहीं।

आत्मोत्कर्ष की दूसरा अवलंबन है—साधना। साधना अर्थात जीवन साधना। साधना अर्थात अस्तव्यस्तता को सुव्यवस्था में बदलना। इसके लिए दो प्रयास निरंतर जारी रखने पड़ते हैं— एक अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों को बारीकी से देखना, समझना और उन्हें उखाड़ने के लिए अनवरत प्रयत्नशील-संघर्षशील रहना। दूसरा कार्य है— मानवी गरिमा के अनुरूप जिन सत्प्रवृत्तियों की अभी कमी मालूम पड़ती है, उनकी आवश्यकता, उपयोगिता को समझते

हुए, उसके लिए आकुलता स्तर का मानस बनाना। यह उभयपक्षीय क्रम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहृत होते चले तो समझना चाहिए कि जीवन साधना साधने का सरंजाम जुटा।

माना कि कार्य समयसाध्य और श्रमसाध्य है, फिर भी वह असंभव नहीं है। कछुआ धीमी गति से चलकर भी बाजी जीत गया था। असफल तो वे खरगोश होते हैं जो क्षणिक उत्साह दिखाने के उपरांत मन बदल लेते और इधर-उधर भटकते हैं। स्थिरता, तत्परता और तन्मयता हर प्रसंग में सफलता का श्रेष्ठ माध्यम बनती हैं। जीवन साधना के लिए भी किया गया प्रयत्न सफल होकर ही रहता है।

किसान अपने खेत में खरपतवार उखाड़ता रहता है, कंकड़-पत्थर बीनता रहता है, इसे परिशोधन कहा जा सकता है। जानवरों, पक्षियों से खेत की रखवाली करना भी इसी स्तर का कार्य है। कीटनाशक दवाओं का प्रयोग भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। खेत में खाद-पानी लगाना पड़ता है। यह परिपोषण पक्ष है। निराई-गुड़ाई का एक उद्देश्य यह भी है कि जमीन पोली बनी रहे। जड़ों में धूप, हवा की पहुँच बनी रहे। फसल को उगाने का यही तरीका है। जीवन को सुविकसित करना भी एक प्रकार का कृषि कार्य है। इसके लिए भी इसी नीति को अपनाना होता है।

शरीर में मल, मूत्र, पसीना, कफ आदि के द्वारा सफाई होती है। स्नान का उद्देश्य भी यही है। सफाई से संबंधित अनेक उपक्रम भी इसीलिए चलते हैं कि विषाणुओं का आक्रमण न होने पाए। सरदी-गरमी से बचने के लिए अनेक प्रयत्न भी इसी उद्देश्य से किए जाते हैं कि हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों से निपटा जाता रहे। जीवन भी एक शरीर है, उसे गिराने के लिए पग-पग पर अनेकानेक संकट, प्रलोभन, दबाव उपस्थित होते रहते हैं। उनसे निपटने के लिए सतर्कता न बरती जाए तो बात कैसे बने? चोर-उचक्कों, ठगों, उद्दंडों की उपेक्षा न होती रहे, तो वे असाधारण क्षति पहुँचाए बिना न रहेंगे।

दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म-जन्मांतरों से संचित पशु-प्रवृत्तियों के रूप में स्वभाव के साथ गुँथी रहती हैं। फिर निकटवर्ती लोग जिस राह पर चलते और जिस स्तर की गतिविधियाँ अपनाते हैं, वे भी प्रभावित करती हैं और अपने साथ चलने के लिए ललचाती हैं। जो कुछ बहुत जनों द्वारा किया जाता दीखता है, अनुकरणप्रिय स्वभाव भी उसकी नकल बनाने लगता है। इतना विवेक तो किन्ही विरलों में ही पाया जाता है कि वे उचित-अनुचित का विचार करें, दूरवर्ती परिणामों का अनुमान लगाएँ और सन्मार्ग पर चलने के लिए बिना साथियों की प्रतीक्षा किए एकाकी चल पड़ने का साहस जुटाएँ। आमतौर से लोग प्रचलित ढर्रे पर चलते देखे गए हैं। पत्ते और धूलिकण हवा के रुख के साथ उड़ने लगते हैं। दिशाबोध उन्हें कहाँ होता है? यही स्थिति लोकमानस के संबंध में भी कही जा सकती है। नीर-क्षीर की विवेक बुद्धि तो कम दीख पड़ने वाले राजहंसों में ही होती है। अन्य पक्षी तो ऐसे ही कुड़ा-कचरा और कीड़े-मकोड़े खाते देखे गए हैं।

किसी वस्तु का प्राप्त कर लेना एक बात है और उसका सदुपयोग बन पड़ना सर्वथा दूसरी। स्वास्थ्य सभी को मिला है, पर उसे बनाए रखने में समर्थ विरले ही होते हैं। अधिकांश तो असंयम अपनाते और उसे बरबाद ही करते हैं। बुद्धि का सदुपयोग कठिन है, चतुर कहे जाने वाले लोग भी उसे कहाँ कर पाते हैं? धन कमाते तो सभी हैं, पर उसका आधा चौथाई भाग भी सदुपयोग में नहीं लगता। उसे जिन कामों में जिस तरह खरचा जाता है, उससे खरचने वालों की, उनके संपर्क में आने वालों की तथा सर्वसाधारण की बरबादी हो होती है। प्रभाव का उपयोग प्रायः गिराने, दबाने, भटकाने में ही होता रहता है। इसे समझदार कहे जाने वाले मनुष्य की नासमझी ही कहा जाएगा। यह व्याधि सर्वसाधारण को बुरी तरह ग्रसित किए हुए है। इसी को कहते हैं राजमार्ग छोड़कर मृगतृष्णा में, भूल-भुलैयों में भटकना। जीवन संपदा के संबंध में भी यही बात है। जन्म से मरणपर्यंत पेट

प्रजनन जैसी सामयिक बातों में ही आयुष्य बीत जाता है। आवारागरदी में दिन कट जाता है।

हर व्यक्ति की मनःस्थिति परिस्थिति अलग होती है। यही बात दुर्गुणों और सद्गुणों की न्यूनाधिकता के संबंध में भी है। किसे अपने में क्या सुधार करना चाहिए और किन नई सत्प्रवृत्तियों को संवर्द्धन गुण, कर्म, स्वभाव के क्षेत्र में करना है? यह आत्म-समीक्षा के आधार पर सही विश्लेषण होने के उपरांत ही संभव है। इसके लिए कोई एक निर्धारण नहीं हो सकता है। यह कार्य हर किसी को स्वयं करना होता है। दूसरों को तो थोड़ा-बहुत परामर्श ही काम दे सकता है। नित्य-निरंतर हर कोई किसी के साथ रहता नहीं। फिर रोग का कारण और निदान जानते हुए उपचार का निर्धारण कोई अन्य किस प्रकार कर सके? थोड़े समय तक संपर्क में आने वाला केवल उतनी ही बात जान सकता है, जितनी कि मिलन काल में उभरकर सामने आती है। यह सर्वथा अधूरी रहती है। इसलिए अन्यान्यों के परामर्श पर पूरी तरह निर्भर नहीं रहा जा सकता। यह कार्य स्वयं अपने को ही करना पड़ता है। इसमें भी एक कठिनाई यह है कि मानसिक संरचना के अनुसार हर व्यक्ति अपने को निर्दोष मानता है, साथ ही सर्वगुणसंपन्न भी समझता रहता है। यह स्थिति सुधार और विकास दोनों में बाधक है? जब तक कमी का आभास न हो तब तक उसकी पूर्ति का तारतम्य कैसे बने? अस्तु, आत्मविकास के मार्ग पर चलने वाले जीवन साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि निष्पक्षता की मनोभूमि विकसित की जाए। खासतौर से अपने संबंध में उतना ही तीखापन होना चाहिए जितना कि आमतौर से दूसरों के दोष-दुर्गुण ढूँढ़ने में हर किसी का रहता है। आरोप लगाने और लांछित करने में हर किसी को प्रवीण पाया जाता है। इस सहज वृत्ति को ठीक उलटा करने से आत्मसमीक्षा की वह प्राथमिक आवश्यकता पूरी होती है, जिसके बिना व्यक्तित्व का निखार प्रायः असंभव ही

बना रहता है। वह न बन पड़े तो किसी को भी महानता अपनाने और प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँच सकने का अवसर मिल ही नहीं सकता ।

क्या करें? इस प्रश्न के उत्तर में एक पूरक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या नहीं हो रहा है? और ऐसे क्या अनुपयुक्त हो रहा है, जिसे नहीं सोचा या नहीं किया जाना चाहिए था। किन्हीं सुविकसित और सुसंस्कृत बनने वालों के निजी दृष्टिकोण, स्वभाव और दिशा निर्धारण को समझते हुए यह देखा जाना चाहिए कि वैसा कुछ अपने से बन पड़ रहा है या नहीं? यदि नहीं बन पड़ रहा है तो उसका कारण और निवारण क्या हो सकता है? इस प्रकार के निर्धारण जीवन साधना के साधकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जो अपनी त्रुटियों की उपेक्षा करता रहता है, जो अगले दिनों अधिक प्रखर और अधिक प्रामाणिक बनने की बात नहीं सोच सकता, उस प्रकार की योजना बनाकर उनके लिए कटिबद्ध होने की तत्परता नहीं दिखा सकता, उसके संबंध में यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी ऐसी स्थिति में पहुँच सकेगा जिसमें अपने को गर्व-गौरव अनुभव करने का अवसर मिल सके। साथ ही दूसरों का सहयोग, सम्मान पाकर अधिक ऊँची स्थिति तक पहुँच सकना संभव हो सके।

साधक के लिए आलस्य, प्रमाद, असंयम, अपव्यय एवं उन्मत्त और अस्त-व्यस्त रहना प्रमुख दोष है। अचिंत्य चिंतन और अकर्मों को अपनाना पतन-पराभव के यही दो कारण हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता में अपने को जकड़े रहने वाले अपनी और दूसरों की दृष्टि में गिर जाते हैं। उत्कृष्टता और आदर्शवादिता से रिश्ता तोड़ लेने पर ओछे लोग समझते हैं कि इस आधार पर नफे में रहा जा सकेगा। पर बात यह है कि ऐसों को सर्वसाधारण की उपेक्षा सहनी पड़ती है और असहयोग की शिकायत बनी रहती है। अपना चिंतन, चरित्र, स्वभाव और व्यवहार यदि ओछेपन से ग्रसित हो तो उसे उसी प्रकार धो डालने का प्रयत्न करना

चाहिए जैसे कि कीचड़ से सन जाने पर उस गंदगी को धोने का अविलंब प्रयत्न किया जाता है। गंदगी से सने फिरना किसी के लिए भी अपमान की बात है। इसी प्रकार मानवी गरिमा से अलंकृत होने पर भी क्षुद्रताओं और निकृष्टताओं का परिचय देना न केवल दुर्भाग्य सूचक है, वरन साथ में यह अभिशाप भी जुड़ता है कि कोई महत्त्वपूर्ण, उत्साहवर्द्धक और अभिनंदनीय प्रगति कर सकने का आधार कभी हाथ ही नहीं आता। पेट भरने और परिवार के लिए मरते-खपते रहना किसी भी गरिमाशील के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। इस नीति को तो पशु-पक्षी और कीट-पतंग ही अपनाते रहते हैं और मौत के दिन किसी प्रकार पूरे कर लेते हैं। यदि मनुष्य भी इसी कुचक्र में पिसता और दूसरों को पीसता रहे, तो समझना चाहिए कि उसने मनुष्य जन्म जैसी देव दुर्लभ संपदा को कौड़ी मोल गँवा दिया।

नित्य आत्मविश्लेषण, सुधार सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन का क्रम यदि जारी रखा जाए तो प्रगति के लक्ष्य उपलब्ध करने की दिशा में अपने क्रम से बढ़ चलना संभव हो जाता है। इंद्रियसंयम, समयसंयम, अर्थसंयम और विचारसंयम को व्यावहारिक जीवन की तपश्चर्या माना गया है। तप से संपत्ति और संपत्ति से सिद्धि प्राप्त होने का तथ्य सर्वविदित है। दुष्प्रवृत्तियों से अपने को बचाते रहने की संयमशीलता किसी को भी सशक्त बना सकने में समर्थ हो सकती हैं। यह राजमार्ग अपनाकर कोई भी समुन्नत होते हुए अपने आप को देख सकता है।

समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के चार सद्‌गुण यदि अपने व्यक्तित्व के अंग बनाए जा सकें, उन्हें पुण्य परमार्थ स्तर का माना जा सके तो अपना आपा देखते-देखते इस स्तर का बन जाता है कि अपने सुख बाँटने और दूसरों का दुःख बँटा लेने की उदार मनोदशा विनिर्मित होने लगे। जीवन साधना इसी आधार पर सधती है। मनुष्य जन्म को सार्थक इन्हीं आधारों को अपनाकर बनाया जा सकता है।

साप्ताहिक और अर्द्ध वार्षिक साधनाएँ

मोटर के पहियों में भरी हवा धीरे-धीरे कम होने लगती है। उसमें थोड़े समय के बाद नई हवा भरनी पड़ती है। रेल में कोयला-पानी चुकता है तो दुबारा भरना पड़ता है। पेट खाली होता है तो नई खुराक लेनी पड़ती है। जीवन का एकसा ढर्रा नीरस बन जाता है, तब उसमें नई स्फूर्ति संचारित करने के लिए नया प्रयास करना पड़ता है। पर्व-त्योहार इसीलिए बने हैं कि एक नया उत्साह उभरे और उस आधार पर मिली स्फूर्ति से आगे का क्रिया-कलाप अधिक अच्छी तरह चले। रविवार की छुट्टी मनाने के पीछे भी नई ताजगी प्राप्त करना और अगले सप्ताह काम आने के लिए नई शक्ति अर्जित करना है। संस्थाओं के विशेष समारोह भी इसी दृष्टि से किए जाते है कि उस परिकर में आई सुस्ती का निराकरण किया जा सके। प्रकृति भी ऐसा ही करती रहती है। घनघोर वर्षा और खिलखिलाती बसंत ऋतु ऐसी ही नवीनता भर जाती है। विवाह और निजी पुरुषार्थ की कमाई इन दो आरंभों को भी मनुष्य सदा स्मरण रखता है उनमें उत्साहवर्द्धक नवीनता है।

जीवन साधना का दैनिक कृत्य बताया जा चुका है। उठते आत्मबोध, सोते तत्त्वबोध। प्रथम पहर भजन, तीसरे पहर मनन, ये चार विधाएँ नित्यकर्मो में सम्मिलित रहने लगे तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चारों आधार बन पड़ते हैं। चार पाये की चारपाई होती है और चार दीवारों की इमारत। चार दिशाएँ, चार वर्ण, चार आश्रमों, अंतःकरण चतुष्टय प्रसिद्ध हैं। प्रज्ञायोग की दैनिक साधना में उपरोक्त चार आधारों का संतुलित समन्वय है। उन सभी में कर्मकाण्ड घटा हुआ है और भाव चिंतन बढ़ा हुआ। इससे लंबे कर्मकाण्डों की उलझन में उद्देश्य से भटक जाने की आशंका नहीं रहती। भावना और आकांक्षा सही बनी रहने पर बुद्धि द्वारा निर्धारण सही होते रहते हैं। स्वभाव और कर्म-कौशल का क्रम भी सही चलता रहता है। नित्यकर्म की नियमितता स्वभाव का अंग बनती है और फिर जीवन क्रम उसी ढाँचे में ढलता चला जाता है।

जीवन साधना के दो विशेष पर्व है—एक साप्ताहिक दूसरा अर्द्ध वार्षिक। साप्ताहिक आमतौर से लोग रविवार, गुरुवार को रखते हैं। पर परिस्थितियों के कारण यदि कोई अन्य दिन सुविधाजमक पड़ता है तो उसे भी अपनाया जा सकता है। अर्द्धवार्षिक में आश्विन और चैत्र की दो नवरात्रियाँ आती हैं। इनमें साधना नौ दिन की करनी पड़ती है। इन दो पर्वों का विशेष उपासना को भी अपने निर्धारण में सम्मिलित रखने से बीच में जो अनुत्साह की गिरावट आने लगती है, उसका निराकरण होता रहता है। इनके आधार पर जो विशेष शक्ति उपार्जित होती है, उससे शिथिलता आने का अवसाद निपटता रहता है।

साप्ताहिक विशेष साधना में चार विशेष नियम विधान अपनाने पड़ते हैं। ये हैं— (१) उपवास, (२) ब्रह्मचर्य, (३) मौन तथा (४) प्राण संचय। इनमें से कुछ ऐसे हों जिनके लिए मात्रसंयम ही अपनाना पड़ता है। दो के लिए कुछ कृत्य विशेष करने पडते़ हैं। जिह्वा और जनेंद्रिय, यही दो दसों इंद्रियों में प्रबल हैं। इन्हें साधने से इंद्रियसंयम सध जाता है। यह प्रथम चरण पूरा हुआ तो समझना चाहिए कि अगले चरण मनोनिग्रह में कुछ विशेष कठिनाई न रह जाएगी।

जिह्वा का असंयम अतिमात्रा में अभक्ष्य भक्षण के लिए उकसाती है। कटु, असत्य, अनर्गल और असत भाषण भी उसी के द्वारा बन पड़ता है। इसलिए एक ही जिह्वा को रसना और वाणी इन दो इंद्रियों के नाम से जाना जाता है। जिह्वा की साधना के लिए अस्वाद का व्रत लेना पड़ता है। नमक, मसाले, शक्कर, खटाई आदि के स्वाद जिह्वा को चटोरा बनाते हैं। सात्विक और सुपाच्य पदार्थों की उपेक्षा करता है। तले, भुने, तेज मसालों वाले, मीठे पदार्थों में जो चित्र-विचित्र स्वाद मिलते हैं, उनके लिए जीभ ललचाती रहती है। इस आधार पर अभक्ष्य ही रुचिकर लगता है। ललक में अधिक मात्रा उदरस्थ कर ली जाती है, फलतः पेट खराब रहने लगता है। सड़न से रक्त विषैला होता है और दूषित रक्त अनेकानेक बीमारियों

का निमित्त कारण बनता है। इस प्रकार जिह्वा की विकृतियाँ जहाँ सुनने वालों को पतन के विक्षोभ के गर्त में धकेलती हैं, वहाँ अपनी स्वस्थ्यता पर भी कुठाराघात करती हैं। इन दोनों विपत्तियों से बचाने में जिह्वा का संयम एक तप साधना का प्रयोजन पूरा करता है। नित्य न बन पड़े तो सप्ताह में एक दिन तो जिह्वा को विश्राम देना ही चाहिए, ताकि वह अपने उपरोक्त दुर्गुणों से उबरने का प्रयत्न कर सके।

उपवास पेट का साप्ताहिक विश्राम है। इससे छह दिन की विसंगतियों का संतुलन बन जाता है और आगे के लिए सही मार्ग अपनाने का अवसर मिलता है। जल लेकर उपवास न बन पड़े तो शाकों का रस या फलों का रस लिया जा सकता है। दूध, छाछ पर भी रहा जा सकता है। इतना भी न बन पड़े तो एक समय का निराहार तो करना ही चाहिए। मौन पूरे दिन का न सही किसी उचित समय दो घंटे का तो कर ही लेना चाहिए। इस चिन्ह पूजा से भी दोनों प्रयोजनों का उद्देश्य स्मरण बना रहता है और भविष्य में जिन मर्यादाओं का पालन किया जाता है, उस पर ध्यान केंद्रित बना रहता है। साप्ताहिक विशेष साधना में जिह्वा पर नियंत्रण स्थापित करना प्रथम चरण है।

द्वितीय आधार है—ब्रह्मचर्य। नियत दिन शारीरिक ब्रह्मचर्य तो पालन करना ही चाहिए। यौनाचार से तो दूर ही रहना चाहिए, साथ ही मानसिक ब्रह्मचर्य अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि कुदृष्टि का, अश्लील कल्पनाओं का निराकरण किया जाए। नर नारी को देवी के रूप में और नारी नर को देवता के रूप में देखे तथा श्रद्धा भरे भाव मन पर जमाएँ। भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-संतान की दृष्टि से ही दोनों पक्ष एकदूसरे के लिए पवित्र भावनाएँ उगाएँ। यहाँ तक कि पति-पत्नी भी एकदूसरे के प्रति अर्द्धांग की उच्चस्तरीय आत्मीयाता संजोएँ। अश्लीलता को अनाचार का एक अंग माने और उस प्रकार के दुश्चिंतन को पास न फटकने दें। संपूर्ण ब्रह्मचर्य तभी सधता है, जब शरीरसंयम के साथ-साथ

मानसिक श्रद्धा का भी समन्वय रखा जाय। इससे मनोबल बढ़ता है और कामुकता के साथ जुड़ने वाली अनेकानेक दुर्भावनाओं से सहज छुटकारा मिलता है। सप्ताह में हर दिन इस लक्ष्य पर भावनाएँ केंद्रित रखी जाय तो उसका प्रभाव भी अगले छह दिनों तक बना रहेगा।

तीसरा साप्ताहिक अभ्यास है—प्राण संचय। एकांत में नेत्र बंद करके अंतर्मुखी होना चाहिए और ध्यान करना चाहिए कि समस्त विश्व में प्रचंड प्राण चेतना भरी हुई है। आमंत्रित आकर्षित करने पर वह किसी को भी प्रचुर परिमाण में कभी भी उपलब्ध हो सकती है। इसकी विधि प्राणायाम है। प्राणायाम के अनेक विधि-विधान हैं। पर उनमें से सर्वसुलभ यह है कि मेरुदंड को सीधा रखकर बैठा जाए। आँखे बंद रहें। दोनों हाथ घुटनों पर। शरीर को स्थिर और मन को शांत रखा जाय।

साँस खीचते समय भावना की जाए कि विश्वव्यापी प्राण चेतना खिंचती हुई नासिका मार्ग से संपूर्ण शरीर में प्रवेश कर रही है। उसे जीवकोष पूरी तरह अपने शरीर में धारण कर रहे हैं। प्राण प्रखरता से अपना शरीर, मन और अंतःकरण ओतप्रोत हो रहा है। साँस खींचने के समय इन्हीं भावनाओं को परिपक्व करते रहा जाए। साँस छोड़ते समय यह विचार किया जाए कि शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में घुसे हुए विकार साँस के साथ बाहर निकल रहे हैं और उनके वापस लौटने का द्वार बंद हो रहा है। इस बहिष्करण के साथ अनुभव होना चाहिए कि भरे हुए अवांछनीय तत्त्व हट रहे हैं और समूचा व्यक्तित्व हलकापन अनुभव कर रहा है। प्रखरता और प्रामाणिकता की स्थिति बन रही है।

चौथा साप्ताहिक अभ्यास मौन वाणी की साधना है। मौन दो घंटे से कम का नहीं होना चाहिए। मौनकाल में प्राण संचय की साधना साथ-साथ चलती रह सकती है। इस निर्धारित कृत्य के अतिरिक्त दैनिक साधना, स्वाध्याय, संयम सेवा के चारों उपक्रमों में से जो जितना बन सके उसके लिए उतना करने का प्रयास

करना चाहिए। सेवा कार्यों के लिए प्रत्यक्ष अवसर सामने हो तो इसके बदले आर्थिक अंशदान की दैनिक प्रतिज्ञा के अतिरिक्त कुछ अधिक अनुदान बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह राशि सद्ज्ञान संवर्द्धन के ज्ञान यज्ञ के निमित्त लगनी चाहिए। पीड़ितों की सहायता के लिए हर अवसर पर कुछ न कुछ करते रहना सामान्य क्रम में भी सम्मिलित रखना चाहिए। ज्ञानयज्ञ तो उच्चस्तरीय ब्रह्मयज्ञ है, जिसके साथ प्राणिमात्र का कल्याण जुड़ा हुआ है। साप्ताहिक साधना का दिन ऐसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगाना चाहिए।

अर्द्ध वार्षिक साधनाएँ आश्विन और चैत्र की नवरात्रियों में नौ-नौ दिन के लिए की जाती हैं। इन दिनों गायत्री मंत्र के २४ हजार जप की परंपरा पुरातन काल से चली आती है। उसका निर्वाह सभी आस्थावान साधकों को करना चाहिए। बिना जाति या लिंगभेद के इसे कोई भी अध्यात्म प्रेमी निःसंकोच कर सकता है। कुछ कमी रह जाने पर भी इस सात्विक साधना में किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं करना चाहिए। नौ दिनों में प्रतिदिन २७ माला गायत्री मंत्र के जप कर लेने से २४ हजार की निर्धारित जप संख्या पूरी हो जाती है। अंतिम दिन कम से कम २४ आहुतियों का अग्निहोत्र करना चाहिए। अंतिम दिन अवकाश न हो तो हवन किसी अगले दिन किया जा सकता है।

अनुष्ठानों में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है— (१) उपवास अधिक न बन पड़े तो एक समय का भोजन या अस्वाद व्रत का निर्वाह तो करना ही चाहिए। (२) ब्रह्मचर्य पालन— यौनाचार एवं अश्लील चिंतन का नियमन। (३) अपनी शारीरिक सेवाएँ यथासंभव स्वयं ही करना। (४) हिंसायुक्त चमड़े के उपकरणों का प्रयोग न करना। पलंग की अपेक्षा तखत या जमीन पर सोना। इन सब नियमों का उद्देश्य यह है कि नौ दिन तक विलासी या अस्त-व्यस्त निरंकुश जीवन न जिया जाए। उसमें तप संयम की विधि व्यवस्था का अधिकाधिक समावेश किया जाए। नौ दिन का अभ्यास अगले छह महीने तक अपने आप पर छाया रहे और यह

ध्यान बना रहे कि संयमशील जीवन ही आत्मकल्याण तथा लोकमंगल की दुहरी भूमिका संपन्न करता है। इसलिए जीवनचर्या को इसी दिशाधारा के साथ जोड़ना चाहिए।

अनुष्ठान के अंत में पुर्णाहुति के रूप में प्राचीन परंपरा ब्रह्मभोज की है। उपयुक्त ब्राह्मण न मिल सकने के कारण इन दिनों वह कृत्य नौ कन्याओं को भोजन करा देने के रूप में भी पूरा किया जाता है। कन्याएँ किसी भी वर्ण की हो सकती हैं। इस प्रावधान में नारी को देवी स्वरूप में मान्यता देने की भावना सन्निहित है। कन्याएँ तो ब्रह्मचारिणी होने के कारण और भी अधिक पवित्र मानी जाती हैं।

ब्रह्मभोज का दूसरा प्रचलित रूप वितरण भी है। यों प्रसाद में कोई मीठी वस्तुएँ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाँटने का भी नियम है। इसमें अधिक लोगों तक अपने अनुदान का लाभ पहुँचाना उद्देश्य है, भले ही वह थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही क्यों न हो! एक का पेट भर देने की अपेक्षा सौ का मुँह मीठा कर देना इसलिए अच्छा माना जाता है कि इसमें देने वाले तथा लेने वालों को उस धर्म प्रयोजन के विस्तार की महिमा समझने और व्यापक बनाने की आवश्यकता का अनुभव होता है।

यह कार्य मिष्टान्न वितरण की अपेक्षा सस्ता युग साहित्य वितरण करने के रूप में अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। "युग निर्माण का सतसंकल्प" नामक अति सस्ती पुस्तिका इस प्रयोजन के लिए अधिक उपयुक्त बैठती है। ऐसी ही अन्य छोटी पुस्तिकाएँ भी युग निर्माण योजना द्वारा प्रकाशित हुई हैं जिन्हें बाँटा या लागत से कम मूल्य में बेचने का प्रयोग किया जा सकता है। नवरात्रि अनुष्ठानों में यह ब्रह्मभोज की सत्साहित्य के रूप में प्रसाद वितरण की प्रक्रिया भी जुड़ी रहनी चाहिए।

स्थानीय साधक मिल-जुलकर एक स्थान पर नौ दिन की साधना करें। अंत में सामूहिक यज्ञ करें। सहभोज का प्रबंध रखें,

साथ ही कथा-प्रवचन, कीर्तन उद्बोधन का क्रम बनाए रह सके तो उस सामूहिक आयोजन से सोने में सुगंध जैसा उपक्रम बन पड़ता है।

आराधना और ज्ञानयज्ञ

शारीरिक स्वस्थता के तीन चिन्ह हैं— (१) खुलकर भूख, (२) गहरी नींद, (३) काम करने के लिए स्फूर्ति। आत्मिक समर्थता के भी तीन चिन्ह हैं—(१) चिंतन में उत्कृष्टता का समावेश, (२) चरित्र में निष्ठा और, (३) व्यवहार में पुण्य परमार्थ के पुरुषार्थ की प्रचुरता। इन्हीं को उपासना, साधना और आराधना कहते हैं। आत्मिक प्रगति का लक्षण है, मनुष्य में देवत्व का अभिवर्द्धन। देवता देने वाले को कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे धर्मधारणा या सेवा साधना भी कह सकते हैं। व्यक्तित्व में शालीनता उभरेगी तो निश्चित रूप से सेवा की ललक उठेगी। सेवा साधना से गुण, कर्म, स्वभाव में सदाशयता भरती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जब शालीनता उभरेगी तो परमार्थरत हुए बिना रहा नहीं जा सकेगा। पृथ्वी पर मनुष्य शरीर में निवास करने वाले देवताओं को 'भूसुर' कहते हैं। यह साधु और ब्राह्मण वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण एक सीमित क्षेत्र में परमार्थरत रहते हैं और साधु परिव्राजक के रूप में सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का उद्देश्य लेकर जहाँ आवश्यकता है, वहाँ पहुँचते रहते हैं। उनकी गतिविधियाँ पवन की तरह प्राण प्रवाह बिखेरती हैं। बादलों की तरह बरसकर हरीतिमा उत्पन्न करती हैं। आत्मिक प्रगति से कोई लाभान्वित हुआ या नहीं, इसकी पहचान इन्हीं दो कसौटियों पर होती है कि चिंतन और चरित्र में मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है या नहीं। साथ ही परमार्थपरायणता की ललक कार्यान्वित होती है या नहीं।

मोटेतौर पर दान पुण्य को परमार्थ कहते हैं। पर इसमें विचारशीलता का गहरा पुट रहना आवश्यक है। दुर्घटनाग्रस्त, आकस्मिक संकटों में फँसे हुओं को तात्कालिक सहायता आवश्यक

होती है। इसी प्रकार अपंग, असमर्थों को भी निर्वाह मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त अभावग्रस्तों, पिछड़े हुओं को ऐसी परोक्ष सहायता की जानी चाहिए जिसके सहारे वे स्वावलंबी बन सकें। उन्हें श्रम दिया जाए, साथ ही श्रम का इतना मूल्य भी, जिससे मानवोचित निर्वाह संभव हो सके। गांधी जी ने खादी को इसी दृष्टि से महत्त्व दिया था कि उसे अपनाने पर बेकारों को काम मिलता है। अन्य कुटीर उद्योग भी इसी श्रेणी में आते हैं। बेरोजगारी दूर करने के साधन खड़े करें प्रकारांतर से अभावग्रस्तों की सहायता की है। मुफ्तखोरी का बढ़ावा देना दान नहीं है। इससे निठल्लेपन की आदत पड़ती है। प्रमाद और व्यसन पनपते हैं। लेने वाले को हीनता की अनुभूति होती है और देने वाले का अहंकार बढ़ता है। यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ दोनों ही पक्षों के लिए अहितकर है। इसलिए औचित्य और सही परिणाम को दृष्टि में रखते हुए दान किया जाना चाहिए। अन्यथा दान के नाम पर धन का दुरुपयोग ही होता है और उससे स्वावलंबन का उत्साह घटता है।

दोनों में सर्वोपरि ज्ञान दान को माना जाता है। इसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ जिन प्रयत्नों से बढ़ सकें उसी को सच्चा परमार्थ कहना चाहिए। सत् चिंतन के अभाव में ही लोग अनेकों दुर्गुण अपनाते और पतन-पराभव के गर्त में गिरते हैं। यदि सही चिंतन कर सकने का पथ प्रशस्त हो सके तो समझना चाहिए कि सर्व-समर्थ मनुष्य को अपनी समस्याएँ आप हल करने का मार्ग मिल गया। अपंगों, असमर्थों या दुर्घटनाग्रस्तों को छोड़कर कोई ऐसा नहीं है जो सही चिंतन करने का मार्ग मिल जाने पर ऊँचा उठ न सके, आगे न बढ़ सके, अपनी समस्याओं को आप हल न कर सके। इसलिए आत्मिक प्रगति के लिए प्रधानतया यही नीति अपनानी चाहिए कि लोकमानस के परिष्कार के लिए, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए अपनी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार भरसक प्रयत्न किया जाए।

समय की अपनी समस्याएँ हुआ करती हैं और परिस्थितियों के अनुरूप उनके समाधान भी खोजने पड़ते हैं। प्राचीन कथा, पुराणों और धर्मशास्त्रों से युगधर्म का निरूपण नहीं हो सकता उसके लिए आज के प्रवाह प्रचलन और वातावरण को ध्यान में रखना होगा। इस हेतु युग मनीषियों को ही सदा से मान्यता मिलती रही है। इन दिनों भी इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा। इसके लिए युग चेतना का आश्रय लेना होगा। युग मनीषियों के प्रतिपादनों पर ध्यान देना होगा। सद्ज्ञान संवर्द्धन का सही तरीका यही हो सकता है। साक्षरता की तरह ऐसे सद्ज्ञान संवर्द्धन की भी आवश्यकता है जो व्यक्ति और समाज के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के संदर्भ में समाधान-कारक सिद्ध हो सके। आत्मोत्कर्ष के लिए आराधना का सेवा साधना का उपाय इसी आधार पर खोजना होगा। लोकमानस का परिष्कार और सतप्रवृत्ति संवर्द्धन को सर्वोच्च स्तर का आधार मानते हुए बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में युगधर्म की प्रतिष्ठापना की जानी चाहिए।

कहा जाता रहा है कि विचारक्रांति की, ज्ञान की साधना में सभी दूरदर्शी विवेकवानों को लगना चाहिए। इसी निमित्त लेखनी, वाणी तथा दृश्य, श्रव्य आधारों का ऐसा प्रयोग करना चाहिए जिससे सर्वसाधारण को युगधर्म पहचानने और कार्यान्वित करने की प्रेरणा मिल सके। सर्वजनीन और सार्वभौम ज्ञानयज्ञ ही आज का सर्वश्रेष्ठ परमार्थ है। इसकी उपेक्षा करके, सस्ती वाहवाही पाने के लिए कुछ भी देते, बखेरते और कहते, लिखते रहने से कुछ वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।

इस चेतना को प्रखर प्रज्वलित करने के लिए युग साहित्य की प्राथमिक आवश्यकता है। उसी के आधार पर पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने की बात बनती है। शिक्षितों को पढ़ाया और अशिक्षितों को सुनाया जाए, तो लोक प्रवाह को सही दिशा दी जा सकती है। इसके लिए प्रज्ञायुग के साधकों को झोला पुस्तकालय चलाने के लिए अपना समय और पैसा लगाना चाहिए। सत्साहित्य खरीदना

सभी के लिए कठिन है, विशेषतया ऐसे समय में जबकि लोगों को भौतिक स्वार्थ साधनों के अतिरिक्त और कुछ सूझता नहीं। आदर्शों की बात सुनने-पढ़ने की अभिरुचि है ही नही। ऐसे समय में युग साहित्य पढ़ाने, वापस लेने के लिए शिक्षितों के घर जाया जाए, उन्हें पढ़ने योग्य सामग्री दी जाती और वापस ली जाती रहे, तो इतने से सामान्य कार्य से ज्ञानयज्ञ का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन हर क्षेत्र में पूरा होने लगेगा। अशिक्षितों को सुनाने की बात भी इसी के साथ जोड़कर रखनी चाहिए।

विचारगोष्ठियों, सभा सम्मेलनों, कथा प्रवचनों का अपना महत्त्व है। इसे सत्संग कहा जा सकता है। लेखनी और वाणी के माध्यम से यह दोनों कार्य किसी न किसी रूप में हर कहीं चलते रह सकते हैं। अपना उदाहरण प्रस्तुत करना सबसे अधिक प्रभावोत्पादक होता है। लोग समझने लगे हैं कि आदर्शों की बात सिर्फ कहने-सुनने के लिए होती हैं। उन्हें व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारा जा सकता। इस भ्रांति का निराकरण इसी प्रकार हो सकता है कि ज्ञानयज्ञ के अध्वर्यु विचारक्रांति के प्रस्तोता जो कहते हैं—दूसरों से जो कराने की अपेक्षा है, उसे स्वयं अपने व्यवहार में उतारकर दिखाएँ। अपने को समझाना, ढालना दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अधिक सरल है। उपदेष्टाओं को आत्मिक प्रगति के आराधनारत होने वालों की, अपनी कथनी और करनी एक करके दिखानी चाहिए।

आदर्शवादी लोकशिक्षण के लिए इस प्रकार की आवश्यकता अनिवार्य रूप से रहती है। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि पूर्णता प्राप्त करने तक हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहा जाए। छठी कक्षा का विद्यार्थी पाँचवी कक्षा वाले की तो कुछ न कुछ सहायता कर ही सकता है। अपने से कम योग्यता एवं स्थिति वालों को मार्गदर्शन करने में कोई भी समर्थ एवं सफल हो सकता है।

इन दिनों उपरोक्त प्रयोजन यंत्रों की सहायता से भी बहुत कुछ हो सकता है। प्राचीन काल में पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं

पर अब तो वे प्रेस में मशीनों से छपती हैं। इसी प्रकार दृश्य और श्रव्य के माध्यम भी अनेकों सुलभ हैं। उसका प्रयोग ज्ञान का विस्तार करने के लिए किया जा सकता है। टेप रिकार्डर में लाउडस्पीकर लगाकर संगीत और प्रवचन के रूप में होने वाली गोष्ठियों की आवश्यकता पूरी की जा सकती है। स्लाइड प्रोजेक्टर (प्रकाश चित्र यंत्र) कम लागत का और लोकरंजन के साथ लोकमंगल का प्रयोजन पूरा करने वाला उपकरण है। वीडियो कैसेट इस निमित्त बनाएँ और जहाँ टी० वी० है, वहाँ दिखाए जा सकते हैं। टेप प्लेयर पर टेप सुनाए जा सकते हैं।

दीवारों पर आदर्श वाक्य-लेखन एक अच्छा तरीका है। इसका यांत्रिक संस्करण है फर्नीचर पर, हैंड बैगों पर चिपकाए जाने वाले "स्टीकर"। इस आधार पर ही सद्विचारों और सद्भावनाओं का अच्छा प्रचार हो सकता है। सिनेमाघरों में स्लाइड दिखाने का प्रबंध जहाँ बन पड़े, वहाँ भी उपयोगी प्रेरणाएँ असंख्यों को मिलती रह सकती हैं।

संगीत टोलियाँ जहाँ भी थोड़े व्यक्ति एकत्रित हों, वहीं अपना प्रचार कार्य आरंभ कर सकती हैं। लाउड स्पीकरों पर रिकार्ड या टेप बजाए जा सकते हैं। इस संदर्भ में दीपयज्ञों की आयोजन प्रक्रिया अतीव सस्ती, सुगम और सफल सिद्ध होती है। इस माध्यम से कर्मकाण्ड के माध्यम से आत्मनिर्माण, मध्याह्नकाल के महिला सम्मेलन में परिवार निर्माण और रात्रि के कार्यक्रम में समाज निर्माण की सुधार प्रक्रिया और संस्थापन विद्या का समावेश किया जा सकता है।

परिवार में रात्रि के समय कथा-कहानियाँ कहने के अपने लाभ हैं। इस प्रयोजन के लिए प्रज्ञा पुराण जैसे कथा ग्रंथ अभीष्ट आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। परस्पर विचार-विनिमय, वाद-विवाद प्रतियोगिता, कविता सम्मेलन भी कम उपयोगी नहीं हैं। हर व्यक्ति स्वयं कविता तो नहीं कर या कह सकता है, पर दूसरों की बनाई हुई प्रेरणाप्रद कविताएँ सुनाने की व्यवस्था तो कहीं

भी हो सकती है। चित्र प्रदर्शनियाँ भी जहाँ संभव हो, इस प्रयोजन की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं।

खोजने पर ऐसे अनेकों सूत्र हाथ लग सकते हैं जो ज्ञानयज्ञ की, विचारक्रांति की, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की, दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के लिए कौन, क्या, किस प्रकार कुछ कर सकता है? इसकी खोज-बीन करते रहने पर हर जगह हर किसी को कोई न कोई मार्ग मिल सकता है। ढूँढ़ने वाले अदृश्य परमात्मा तक को प्राप्त कर लेते हैं, फिर ज्ञानयज्ञ की प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिए मार्ग न मिले, ऐसी कोई बात नहीं है। आवश्यकता है—उसका महत्त्व समझने की, उस पर ध्यान देने की।

उपासना से भावना का, जीवन साधना से व्यक्तित्व का और आराधना से क्रियाशीलता का परिष्कार और विकास होता है। आराधना उदार सेवा साधना से ही सधती है। सेवा कार्यों में सामान्यतः वे सेवाएँ हैं जिनसे लोगों को सुविधाएँ मिलती हैं। श्रेष्ठतर सेवा वह है जिससे किसी की पीड़ा का, अभावों का निवारण होता है। श्रेष्ठतम सेवा वह है जिससे व्यक्ति पतन से हटकर उन्नति की ओर मोड़ा जा सके। सुविधा बढ़ाने और पीड़ा दूर करने की सेवा तो कोई धन संपन्न भी कर सकते हैं। परंतु पतन निवारण की सेवा तो कोई आत्मचेतना संपन्न ही कर सकता है। यह सेवा भौतिक संपदा से नहीं, देवी संपदा से की जाती है। देवी संपदा देने से घटती नहीं बढ़ती है। इसलिए भी वह सर्वसुलभ और श्रेष्ठ मानी जाती है।

संत और ऋषि स्तर के व्यक्ति पतन निवारण की सेवा को प्रधानता देते रहे हैं। इसीलिए वे संसार में पूज्य बने। जिनकी सेवा की गई वे भी महान बने। सेवा की यह सर्वश्रेष्ठ धारा ज्ञानयज्ञ के माध्यम से कोई भी अपना सकता है। स्वयं लाभ पा सकता है और अगणित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाकर पुण्य का भागीदार बन सकता है।

❋

मुद्रक- युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा